जलवायु परिवर्तन
और
पर्यावरण संकट
कौन है इसका जिम्मेदार?

देश-विदेश

पुस्तिका : चार

देश-विदेश पुस्तिका-4
मई - 2011

पुनर्मुद्रण
जनवरी - 2014

जलवायु परिवर्तन और पर्यावरण संकट :
कौन है इसका जिम्मेदार?

सम्पादक
उमा रमण

सहयोग राशि
20 रुपये

सम्पर्क सूत्र
देश विदेश
502/10, एस-1, साँई कॉम्पलेक्स
ब्लॉक-डी, गली नं. - 1
अशोक नगर, शाहदरा,
दिल्ली - 110093

मुद्रक
प्रोग्रेसिव प्रिंटर्स
ए-21, झिलमिल इंडस्ट्रियल एरिया
जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली-95

उमा रमण द्वारा एस-1 साँई कॉम्पलेक्स, 502/10 अशोक नगर, शाहदरा, दिल्ली - 110093 से प्रकाशित

विषय सूची

1. **भूमिका** 5

2. **जलवायु परिवर्तन का सर्वव्यापी बहुआयामी प्रभाव** 9
(क) ग्लोबल वार्मिंग (ख) हवा में घुलता जहर (ग) प्रदूषित पेयजल (घ) खेती और जलवायु परिवर्तन (ङ) गायब होते ग्लेशियर और मरती नदियाँ (च) मौसम परिवर्तन और बीमारियाँ (छ)जीव-जन्तुओं का अस्तित्व खतरे में (ज) आदिवासी जातियों का विलुप्त होना (झ) पूँजीवादी समाज में नाना प्रकार के प्रदूषण (ञ) वैश्वीकरण और प्राकृतिक सम्पदा की लूट

3. **जलवायु संकट पर अन्तरराष्ट्रीय वार्ताओं की असलियत** 35
(क) क्वेटो प्रोटोकॉल और उसकी असफलता (ख) बाली मानचित्र (ग) कोपेनहेगन सम्मेलन (घ) कानकुन सम्मेलन (ङ) जलवायु परिवर्तन पर वार्ताएँ क्यों असफल हो रही हैं? (च) पूँजीवाद मोटर कार उद्योग और प्रदूषण

4. **जलवायु संकट के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण** 47

5. **पर्यावरण विनाश की जड़ें शोषणकारी व्यवस्था के इतिहास में** 52

6. **क्या पूँजीवाद पर्यावरण संकट को हल कर सकता है?** 56

7. **विकल्प क्या है?** 61

परिशिष्ट I **मानव जाति : खतरे में पड़ी एक प्रजाति** 65
(पृथ्वी सम्मेलन (1992) में फिदेल कास्त्रो का भाषण)

परिशिष्ट II **जलवायु परिवर्तन और धरती माता के अधिकारों पर वैश्विक जन-सम्मेलन** 67
(अप्रैल 19-22, 2010) कोचाबाम्बा (बोलीविया) का घोषणापत्र

प्रकृति पर अपनी इन्सानी जीत को लेकर हमें बहुत ज्यादा डींग नहीं हाँकनी चाहिए, क्योंकि ऐसी हरेक जीत के बदले प्रकृति हमसे बदला लेती है। यह सही है कि हरेक जीत से पहले-पहल वे ही नतीजे हासिल होते हैं जिनकी हमें उम्मीद थी, लेकिन दूसरी-तीसरी मंजिल में उससे बिलकुल अलग किस्म के अनदेखे नतीजे सामने आते हैं जो अकसर पहले वाले नतीजों को बेअसर कर देते हैं। मेसोपोटामिया, यूनान, एशिया माइनर और दूसरे इलाकों में जिन लोगों ने खेती की जमीन के लिए जंगलों को तबाह कर डाला, उन्होंने सपने में भी नहीं सोचा था कि उन जंगलों के साथ-साथ नमी इकट्ठा करने और उसे हिफाजत से रखने वाले खजाने को खाली करके वे इन देशों की मौजूदा तबाही की बुनियाद डाल रहे हैं। आल्प्स के इटलीवासियों ने जब दक्षिणी इलाकों पर से चीड़ के जंगलों को काट-काटकर पूरी तरह इस्तेमाल कर लिया, जिन्हें उत्तरी इलाकों ने बड़ी हिफाजत से पाला-पोसा था, तब उन्हें इस बात का अहसास नहीं था कि ऐसा करके वे अपने इलाके के पशुपालन की जड़ खोद रहे हैं। इस बात का तो उन्हें और भी कम अहसास था कि इसके चलते वे हर साल कई महीने के लिए अपने पहाड़ी झरनों के पानी से खुद को महरूम कर रहे हैं और दूसरी ओर उन स्रोतों को ऐसी हालत में पहुँचा रहे हैं कि वे बरसात के मौसम में मैदानी इलाकों में भयावह बाढ़ लाया करें। ... इस तरह हर कदम पर हमें आगाह किया जाता है कि हम प्रकृति पर विदेशी हमलावरों की तरह हकूमत बिलकुल नहीं करते जैसे कि हम प्रकृति से बाहर के लोग हों बल्कि अपने खून, माँस और दिमाग के साथ हम प्रकृति का अपना हिस्सा हैं, हम उसके भीतर ही मौजूद हैं और इसके ऊपर हमारी सारी हकूमत इस बात में शामिल है कि दूसरे सभी जानवरों से हम इस मायने में बेहतर हालत में हैं कि हम प्रकृति के नियमों को सीख सकते हैं और उन्हें सही ढंग से लागू कर सकते हैं।

फ्रेडरिक एंगेल्स,
वानर से नर बनने की प्रक्रिया में
श्रम की भूमिका (1876)

भूमिका

जलवायु परिवर्तन के विनाशकारी प्रभावों के कारण हमारी धरती माता और पूरी मानव सभ्यता के ऊपर तबाही का खतरा मँडरा रहा है।

पृथ्वी लगातार तेजी से गर्म होती जा रही है। ग्लेशियर पिघल रहे हैं। समुद्र का जलस्तर ऊपर उठ रहा है। वैज्ञानिकों का कहना है कि यही हालत रही, तो बांग्लादेश से फ्लोरिडा तक करोड़ों लोगों को पनाह देने वाले गाँव-घर समुद्र में डूब जायेंगे। पीने का पानी जहरीला हो जायेगा। भारी वर्षा और भयावह सूखा दुनिया भर में तबाही मचायेंगे। खेती-बाड़ी उजड़ जायेगी। जीवों की कई प्रजातियाँ लुप्त हो जायेंगी और जंगली इलाके उजाड़ होकर रेगिस्तान बन जायेंगे। ये बातें महज अनुमान या आशंका नहीं, बल्कि ऐसी सच्चाइयाँ हैं जो आज भी हमारी आँखों के आगे घटित हो रही हैं। इस विकट समस्या का समाधान करने के लिए अविलम्ब और त्वरित कार्रवाई की जरूरत है। लेकिन दुनिया भर के शासक अपने संकीर्ण स्वार्थों और मुनाफे की हवस में इस दिशा में तत्काल कदम उठाने के बजाय टालमटोल कर रहे हैं। अगर यही स्थिति रही तो जल्दी ही यह संकट इतना विकट हो जायेगा कि धरती के पर्यावरण को फिर से पुरानी अवस्था में लौटाना सम्भव नहीं होगा।

जलवायु, परिवर्तन के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार विकसित पूँजीवादी देश हैं। कार्बन-डाइ-आक्साइड के उत्सर्जन में वे ही सबसे आगे हैं और पर्यावरण संकट को हल करने की जिम्मेदारी से वे ही मुँह चुरा रहे हैं। इसकी भारी कीमत दुनिया की गरीब आबादी को चुकानी पड़ रही है। दुनिया भर में 5 साल से कम उम्र के एक करोड़ बच्चे हर साल खसरा, डायरिया और साँस की बीमारी से मारे जाते हैं, जो दूषित पर्यावरण और मानवद्रोही शासन व्यवस्था की देन है। पिछले 200 सालों के औद्योगिक विकास ने जहाँ दुनिया में मुट्ठीभर लोगों के लिए समृद्धि के पहाड़ खड़े किये हैं, वहीं बहुसंख्य जनता को भयानक गरीबी की खाई में धकेल दिया है। गरीब जनता अपनी जीविका के लिए जल, जंगल, जमीन जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर ज्यादा निर्भर रहती है, जिनके क्षरण से उनकी जीविका तबाह होती जा रही है।

धरती माँ अपनी किसी संतान के साथ विकसित-अविकसित, धनी-गरीब या ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं करती। लेकिन धनी आदमी पर्यावरण संकट से उत्पन्न परेशानियों से बच सकता है। उसके पास गर्मी से बचने के लिए ए. सी., धूप से बचने के लिए सनस्क्रीम आदि महँगे संशाधन उपलब्ध हैं। मगर गरीब आदमी को पेट भरने के लिए तपती धूप में भी अपना खून जलाकर मजदूरी करनी पड़ती है। बाढ़ और सूखे के समय उनके पास इतने आर्थिक साधन नहीं होते कि वे दो वक्त की रोटी जुटा सकें। सरकार की उपेक्षा के कारण उन्हें दर-दर की ठोकर खानी पड़ती है। गरीब औरतों पर तो इसका और भी बुरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में पुरुष फिर भी कहीं जाकर रोजी-रोटी कमा सकते हैं, लेकिन सामाजिक बेड़ियों में जकड़ी औरतें ऐसा नहीं कर सकतीं। पिछले साल बुंदेलखण्ड में सूखा पड़ा तो कई औरतों को अपना शरीर बेच कर रोटी का जुगाड़ करना पड़ा था।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार जलवायु परिवर्तन ने सन् 2000 में 55 लाख लोगों को अपंग बना दिया जिसमें से 84 प्रतिशत उपसहारा अफ्रीका और पूर्वी व दक्षिण एशिया जैसे पिछड़े इलाकों की गरीब जनता थी। विकासशील देशों में गर्मी बढ़ते ही मलेरिया और डेंगू का प्रकोप होने लगता है। देश के कई इलाकों में सूखा-बाढ़ या भूजल स्तर नीचे जाने के चलते खेती और किसानों की जिन्दगी तबाह हो रही है। ऊपर से उन पर सरकार की किसान विरोधी नीतियों की दोहरी मार पड़ रही है। अनाज की उपज कम होने के कारण भुखमरी और कुपोषण बढ़ता जा रहा है। गन्दी जलवायु और कुपोषण के कारण लोगों की प्रतिरोध क्षमता कम हो रही है जिससे बहुत आसानी से वे बीमारियों की चपेट में आ रहे हैं। संकट के इस दौर में बाजार की हृदयहीन शक्तियों की चौतरफा मार गरीब जनता पर पड़ रही है। इसके कारण समाज का आर्थिक और सामाजिक ढाँचा तहस-नहस हो रहा है।

बाढ़, सूखा, तूफान, ओलावृष्टि और लू जैसी प्राकृतिक आपदाओं ने अतीत की कई सभ्यताओं का विनाश किया है। ई.पू. 2300 के आसपास तुर्की में फारस की खाड़ी तक फैली मेसोपोटामिया की ग्रामीण सभ्यता को विनाशकारी सूखे ने निगल लिया था। यही हश्र कई अन्य सभ्यताओं का भी हुआ। अंग्रेजों के क्रूर शासन काल के दौरान 1770 में बंगाल के अकाल ने वहाँ की एक तिहाई जनता, लगभग एक करोड़ लोगों की जान ले ली थी। 1875 से 1900 के बीच देश भर में अकाल की चपेट में आकर 2 करोड़ 60 लाख लोगों ने जान गँवायी थी। इन अकालों के पीछे खराब मानसून के अलावा अंग्रेजों की लुटेरी आर्थिक और प्रशासनिक नीतियाँ जिम्मेदार थीं। अंग्रेजों द्वारा बेहिसाब लगान,

युद्धकर, आयात-निर्यात पर मनमाना कर और अपनी जरूरतों के अनुरूप अफीम, चावल, गेहूँ, नील और कपास की खेती को बढ़ावा देने के कारण अकाल की भयावहता सैकड़ों गुना बढ़ गयी थी। लेकिन आज तेजी से होने वाले जलवायु परिवर्तन के इन विनाशकारी नतीजों के आगे पुराने दौर की बाढ़ और सूखा तो कहीं भी नहीं ठहरते। प्रकृति की निर्बाध लूट पर फलने-फूलने वाली पूँजीवादी सभ्यता ने इस विनाश को निमंत्रण दिया है। मनुष्य की जिन्दगी पर इसका चौतरफा हमला शुरू हो गया है और जिन्दगी का कोई पहलू इसकी मार से अछूता नहीं है।

जलवायु संकट को लेकर आज पूरी दुनिया में तीखी बहसें चल रही हैं। इस संकट के स्वरूप, कारण और समाधान को लेकर अपने-अपने खर्चों के अनुरूप विभिन्न सामाजिक शक्तियाँ अलग-अलग अवस्थिति अपना रही हैं। प्रश्न यह है कि क्या यह प्रकृति की अनिवार्य परिघटना है या मनुष्य द्वारा धरती की स्वार्थपूर्ण, अनियन्त्रित लूट-खसोट का परिणाम? इस संकट के लिए कौन जिम्मेदार है और किसे इसकी कीमत चुकानी पड़ रही है? जलवायु परिवर्तन पर होने वाले वैश्विक सम्मेलनों की असफलता के क्या कारण हैं? विभिन्न वर्गों, समुदायों और संगठनों का इस संकट के प्रति क्या रुख है? इसके प्रति दुनिया के शासकों की लापरवाही और उपेक्षा का क्या कारण है? क्या यह विपदा सचमुच भयावह है या केवल इसे बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जा रहा है? मन-मस्तिष्क को मथने वाले इन्हीं सवालों का जवाब इस पुस्तिका में तलाशने का प्रयास किया गया है।

पुस्तिका के अन्त में दो महत्त्वपूर्ण दस्तावेज परिशिष्ट के रूप में दिये जा रहे हैं। इनमें पहला है पृथ्वी सम्मेलन (1992) में **फिदले कास्त्रो** का भाषण **''मानव जाति : खतरे में पड़ी एक प्रजाति''** जो पर्यावरण संकट को सही संदर्भों में और पूरी गम्भीरता के साथ प्रस्तुत करते हुए इसके अविलम्ब समाधान की माँग करता है। दूसरा दस्तावेज **''जलवायु परिवर्तन और धरती माता के अधिकारों पर वैश्विक जन-सम्मेलन (अप्रैल 2010) कोचाबाम्बा, बोलीविया का घोषणापत्र''** है जो इस संकट को समग्रता में निरूपित करते हुए, इसका सच्चा और स्थायी समाधान भी प्रस्तुत करता है।

इस पुस्तिका की तैयारी में *मन्थली रिव्यू* पत्रिका के सम्पादक *जॉन बेलामी फोस्टर* की रचनाओं और इसी पत्रिका में समय-समय पर प्रकाशित अन्य लेखों का उपयोग किया गया है। फोस्टर की दो पुस्तकें--'वलनरेबुल प्लानेट' और 'इकोलॉजी अगेंस्ट कैपिटलिज्म' इस विषय पर अत्यन्त तथ्यपरक, सारगर्भित और विचारोत्तेजक कृतियाँ हैं। हम उनके आभारी हैं। पुस्तिका के बारे में आपकी आलोचनाओं और सुझावों का स्वागत है।

पर्यावरण को तबाह करने वाली जीवन शैली और उपभोग की आदतों का तीसरी दुनिया को निर्यात बन्द करो। मानव जाति को और ज्यादा तर्कसंगत बनाओ। एक अधिक न्यायसंगत आर्थिक विश्व-व्यवस्था अपनाओ। प्रदूषण रहित टिकाऊ विकास के लिए विज्ञान को आधार बनाओ। विदेशी कर्ज की जगह पर्यावरण का कर्ज चुकाओ। भूख को हटाओ, मानव जाति को नहीं।...

स्वार्थपरता बहुत हो चुकी। दुनिया पर वर्चस्व कायम करने के मंसूबे बहुत हुए। असंवेदनशीलता, गैरजिम्मेदारी और फरेब की हद हो चुकी है। जिसे हमें बहुत पहले ही करना चाहिए था, उसे करने के लिए कल बहुत देर हो चुकी होगी।

(पृथ्वी सम्मेलन- [1992] में फिदले कास्त्रो का भाषण)

जलवायु परिवर्तन का सर्वव्यापी-बहुआयामी प्रभाव

ग्लोबल वार्मिंग

सूर्य से पृथ्वी पर आने वाली ऊष्मा को कार्बन डाइ ऑक्साइड, मिथेन, नाइट्रस ऑक्साइड आदि गैसें अपने अन्दर सोख लेती हैं और उसे वायुमण्डल के रास्ते आकाश में लौटने नहीं देती हैं। ये गैसें यदि उचित मात्रा में रहें तो पृथ्वी की सतह के लिए कम्बल का काम करती हैं, ताकि पृथ्वी बिलकुल ही ठण्डी न हो जाए। वैज्ञानिकों के अनुसार इन गैसों से युक्त वायुमण्डल एक हरे घर (ग्रीन हाउस) के समान होता है, जिसमें सूर्य की ऊष्मा एक बार आ जाने के बाद दुबारा वापस नहीं जा पाती। इसलिए इन गैसों को ग्रीन हाउस गैस कहते हैं। पिछले 200 सालों के औद्योगिक विकास ने वायुमण्डल में कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा बहुत अधिक बढ़ा दी है जिसने सूर्य की गर्मी को वायुमण्डल में सोखकर पूरी धरती का औसत तापमान बढ़ा दिया है। इसे ही ग्लोबल वार्मिंग कहते हैं। इसके चलते जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों की हजारों प्रजातियाँ विलुप्त हो गयीं और अब खुद मनुष्य की बारी है। हर नया दशक पिछले से अधिक गर्म हो रहा है। दुनिया भर के तापक्रम का रिकार्ड बताता है कि पिछले 130 वर्षों के इतिहास में वर्ष 2005 सबसे अधिक गर्म था जबकि 2009 दूसरा सबसे गर्म साल था। वर्ष 2100 तक धरती के तापमान में औसतन 1.5 से 6 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि होने का अनुमान है।

ग्लोबल वार्मिंग के घातक परिणाम अब सामने आने लगे हैं और भविष्य में इससे अपूरणीय क्षति होने की सम्भावना है। 1970 से 2007 के बीच आर्कटिक सागर की 40 प्रतिशत बर्फ कम हो गयी। ग्रीनलैण्ड और अन्टार्कटिक में बर्फ की चादर टूटने से समुद्र के पानी का तापमान बढ़ रहा है और इसी के साथ-साथ समुद्र का जलस्तर भी ऊपर उठ रहा है। दुनिया भर के ग्लेशियर पिघलने से भी समुद्र के जलस्तर में तेजी से वृद्धि होगी। इसके कारण चीन सहित कई देशों के निचले हिस्से डूब जायेंगे। दुनिया के 40 करोड़ लोग समुद्र तल से 5 मीटर और एक अरब लोग 25 मीटर तक की ऊँचाई में रहते हैं। जाहिर है कि समुद्र का जलस्तर बढ़ने से ऐसे करोड़ों लोग बेघर हो जायेंगे। दुनिया भर

के 90 प्रतिशत ग्लेशियर पीछे खिसकते जा रहे हैं। हिमालय के ग्लेशियर एशिया के कई देशों में करोड़ों लोगों के लिए पानी के अक्षय स्रोत हैं। उनका सिकुड़ना एक तरफ बाढ़ और दूसरी तरफ पानी की भारी कमी का कारण बनेगा। बोलीविया और पेरू में पानी की कमी के पीछे ग्लेशियर का गायब होना ही है। वायुमण्डल की गर्मी बढ़ने से उसमें वाष्प की मात्रा बढ़ जायेगी जो मौसम में तेजी से बदलाव लाएगी। एक ही समय में कहीं बाढ़ और कहीं सूखा कहर ढायेंगे, जिससे कई इलाकों की खेती चौपट हो जायेगी। इसके परिणामस्वरूप एक तरफ खाद्यान्न संकट और भुखमरी की समस्या और विकराल रूप धारण करेगी जबकि इस स्थिति का फायदा उठाकर अनाज व्यापारी कम्पनियाँ महँगा अनाज बेचकर बेहिसाब मुनाफा निचोड़ेंगी। वायुमण्डल में उपस्थित ग्रीन हाउस गैस का 72 प्रतिशत कार्बन डाइ ऑक्साइड है। ग्लोबल वार्मिंग का सबसे बड़ा कारण यही है। औद्योगिक क्रान्ति से अब तक (1750 से 2007) वायुमण्डल में कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा में 38 प्रतिशत, मेथेन में 150 प्रतिशत और नाइट्रस ऑक्साइड में 16 प्रतिशत की वृद्धि हो चुकी है। इसी से समझा जा सकता है कि पिछले 200 सालों के औद्योगिक विकास का कितना विनाशकारी परिणाम सामने आया है। दरअसल निजी मुनाफे से प्रेरित पूँजीवाद ने अपने जन्मकाल से ही औद्योगिक विकास करके जहाँ समाज को आगे बढ़ाया, वहीं इसका एक स्याह पहलू यह भी है कि मुनाफे की हवस में पूँजीपतियों ने कार्बन डाइ ऑक्साइड गैस के उत्सर्जन को कभी नियन्त्रित नहीं किया। यही वजह है कि आज बिजली उत्पादन, उद्योग, यातायात, घरेलू उपकरणों और पेट्रोलियम से कुल 73.7 प्रतिशत कार्बन डाइ ऑक्साइड का उत्सर्जन होता है। ऐसा कोई उपाय भी नहीं है जिससे इस गैस को पुनः वायुमण्डल से हटाया जा सके।

औद्योगिक क्रांति से पहले मनुष्य और प्रकृति के बीच काफी हद तक संतुलन बरकरार था, क्योंकि उस दौरान हानिकारक गैसों को आसपास के पेड़-पौधे सोख लेते थे। लेकिन तेजी से औद्योगिकरण के बाद बढ़ते असंतुलित कार्बन उत्सर्जन और उसी रफ्तार से कटते जंगलों ने पृथ्वी पर इस गैसों की मात्रा बढ़ा दी। ऐसा कोई साधन नहीं बचा जिससे वायुमण्डल में इन गैसों की मात्रा को कम किया जा सके। तभी से इन गैसों की मात्रा लगातार बढ़ती जा रही है। उल्लेखनीय है कि कार्बन उत्सर्जन के लिए हर देश और हर इन्सान की जिम्मेदारी एक बराबर नहीं है। इसे निम्न तालिका से समझ सकते हैं :

सन् 2005 में दुनिया के 5 बड़े उत्सर्जक

देश	वैश्विक उत्सर्जन का प्रतिशत	प्रतिव्यक्ति उत्सर्जन (टन में)
अमरीका	16	24.1
इण्डोनेशिया	06	12.9
यूरोपीय संघ	11	10.6
चीन	17	05.8
भारत	05	02.1

कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात और बहरीन जैसे अमरीकी खेमे के तेल उत्पादक देशों का प्रतिव्यक्ति उत्सर्जन 30 टन से भी ज्यादा है। अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा और सऊदी अरब का प्रतिव्यक्ति उत्सर्जन 15 से 30 टन के बीच है, जबकि भारत जैसे विकासशील देशों का उत्सर्जन 5 टन से भी कम है।

ग्रीनपीस का एक सर्वे बताता है कि कार्बन उत्सर्जन में एक ही देश के भीतर गरीब और अमीर लोगों का हिस्सा भी एक समान नहीं है। सर्वे के अनुसार 3000 रुपये मासिक आमदनी वाले परिवार औसतन 335 किलोग्राम सालाना कार्बन उत्सर्जन करते हैं, जबकि तीस हजार की मासिक आमदनी वाले परिवार उनसे चार गुणा ज्यादा, 1499 किलोग्राम कार्बन उत्सर्जित करते हैं। इसी से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि लाखों-करोड़ों की आय वाले परिवार कितना अधिक कार्बन उत्सर्जित करते होंगे। जाहिर है कि ऊँची आय वाले 15 करोड़ भारतीय ही निर्धारित सीमा से अधिक कार्बन उत्सर्जित करते हैं जो कार, ए.सी., रेफ्रीजरेटर, वाशिंग मशीन, प्लाज्मा टी.वी. और अन्य उपकरणों का धड़ल्ले से इस्तेमाल करते हैं। लेकिन इसकी सबसे अधिक कीमत सादगी से जीने वाली 85 प्रतिशत गरीब जनता को चुकानी पड़ती है।

कार्बन उत्सर्जन और वैश्विक तापमान अब धीरे-धीरे नहीं, बल्कि छलांग लगाकर बढ़ रहा है जिसके नतीजे विनाशकारी हैं। आर्कटिक सागर का विशाल बर्फीला इलाका, सूर्य की ऊष्मा को दर्पण की तरह परावर्तित कर उसे वायुमण्डल से बाहर धकेल देता था। लेकिन ग्लोबल वार्मिंग के प्रभाव से बर्फ पिघलने के कारण अब यह ऊष्मा परावर्तित न

होकर पृथ्वी को गर्माने लगी है। उत्तरी टुंड्रा प्रदेश की बर्फ पिघलने से मिथेन गैस निकलती है, जो पृथ्वी को कार्बन डाइ ऑक्साइड से कई गुना अधिक गरम करती है। एक अन्य मामले में समुद्र अधिक मात्रा में कार्बन डाइ ऑक्साइड सोखकर अम्लीय होता जा रहा है जिससे विभिन्न समुद्री प्रजातियाँ मर रही हैं। साथ ही समुद्री जल की कार्बन डाइ ऑक्साइड सोखने की क्षमता भी लगातार कम होती जा रही है जिससे वायुमण्डल में इस गैस के जमा होने की दर बढ़ती जा रही है।

जलवायु परिवर्तन पर अन्तरसरकारी पैनल (आई पी सी सी) के अनुसार समुद्र का जलस्तर बढ़ने की रफ्तार 1961 में 1.8 मिलीमीटर सालाना थी जो सन् 1993 से 2003 के बीच 3.1 मिलीमीटर हो गयी। इस तरह जलवायु परिवर्तन को नियन्त्रित करने की सम्भावना दिनोंदिन कम होती जा रही है। अनुमान है कि सन् 2025 तक पृथ्वी का 70 प्रतिशत इलाका सूखाग्रस्त हो जायेगा जबकि आज पृथ्वी का 40 प्रतिशत इलाका ही सूखे का शिकार है।

जंगल खत्म होते जा रहे हैं। रेगिस्तानों का विस्तार हो रहा है। अरबों टन उपजाऊ मिट्टी हर साल बहकर समुद्र में चली जाती है। बहुत सारी प्रजातियाँ विलुप्त होती जा रही हैं। जनसंख्या का दबाव और गरीबी में भी जीने की विवशता आदमी को निराशोन्मत्त प्रयासों की ओर धकेलती है, यहाँ तक कि प्रकृति के विनाश की कीमत पर भी। तीसरी दुनिया के देशों यानी कल के उपनिवेश और आज के राष्ट्र जो एक अन्यायपूर्ण आर्थिक विश्व-व्यवस्था में शोषण और लूट के शिकार हैं को इस सबके लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

(पृथ्वी सम्मेलन- [1992] में फिदले कास्त्रो का भाषण)

हवा में घुलता जहर

उद्योग, यातायात के साधन, ऊर्जा संयन्त्र और नगरपालिका के कचरे से निकलने वाली गैसें लगातार हवा में घुल रही हैं। इन विषैली गैसों की चपेट में आकर हर साल दुनिया भर में 24 लाख लोग ठण्डी मौत मरते हैं। वायु प्रदूषण से साँस लेने में दिक्कत, अस्थमा, वातस्फीति, श्वसन एलर्जी, फेफड़े और हृदय सम्बन्धी बीमारियाँ होती हैं। भारत में 80 प्रतिशत ऊर्जा का उत्पादन कोयले से होता है जिससे होने वाले प्रदूषण से हर साल 3 लाख लोग अपनी जिन्दगी से हाथ धो देते हैं। पूँजीवाद के विकास की बात करते समय उसके अन्धेरे पहलुओं पर लोग बात करने से कतराते हैं, लेकिन सच्चाई यह है कि अधिक मुनाफा कमाने के लिए पूँजीपति पर्यावरण सम्बन्धी नियम-कानूनों की धज्जियाँ उड़ाते हैं। पैसा बचाने के लिए वे फैक्ट्री से निकलने वाले गन्दे पानी की सफाई के लिए जल-शोधक संयन्त्र लगाने के बजाए उसे नदी-नालों में बहा देते हैं। यहाँ तक कि वातावरण को जहरीली गैसों से बचाने के लिए वे चिमनियों में फिल्टर तक नहीं लगाते हैं।

जहरीली गैसों की फैक्ट्रियों ने कई दिल दहला देने वाले हादसों को जन्म दिया है। 1952 में लन्दन शहर में खतरनाक धुएँ की चपेट में आकर 6 दिन में एक हजार लोग मारे गये और अगले महीने 8 हजार लोग मौत के शिकार हुए। ऐसे ही हादसे, रूस के स्वेर्दलोवस्क, अमरीका के डोनोरा, पेन्नसिल्वेनिया और भारत में भोपाल गैस काण्ड के दौरान हो चुके हैं। अमरीकी यूनियन कार्बाइड कम्पनी में सन् 1984 के दौरान गैस रिसाव होने से भोपाल के लाखों लोगों की जिन्दगी तबाह हो गयी। बार-बार कर्मचारियों और पत्रकारों की चेतावनी के बावजूद नेताओं और कम्पनी के अधिकारियों की मिलीभगत ने छोटे-मोटे रिसाव को अनदेखा करके बड़ी घटना को अन्जाम दिया। आज भी इसके जख्म देश की छाती पर महसूस किये जा सकते हैं। जुलाई 2010 में मुम्बई बन्दरगाह के सेवरी औद्योगिक क्षेत्र में गैस रिसाव से 76 लोग गम्भीर रूप से घायल हो गये। एस्बेस्टस जो कई देशों में प्रतिबन्धित है, क्योंकि यह साँस की बीमारी और कैंसर को बुलावा देता है, लेकिन हमारे देश में इसका उत्पादन बेरोकटोक जारी है। विरोध करने वाले स्थानीय लोगों का सरकार दमन करती है ताकि कम्पनियों का मुनाफा जारी रहे।

दुनिया में सबसे ज्यादा कार्बन डाइ ऑक्साइड उत्सर्जित करने वाला अमरीका वायु

प्रदूषण के साथ ही ग्लोबल वार्मिंग के लिए भी सबसे अधिक जिम्मेदार है। ग्लोबल वार्मिंग का प्रभाव दूरगामी होता है जो वायू प्रदूषण के तात्कालिक प्रभाव से कहीं ज्यादा घातक है। वाहनों से निकलने वाला धुआँ दुनिया भर में वायु प्रदूषण का एक बड़ा स्रोत है। निजी मोटर कार रखना उच्च और सम्पन्न मध्यम वर्ग की शानो-शौकत का प्रतीक है जबकि 70 प्रतिशत वायु प्रदूषण के लिए गाड़ियों से निकलने वाला धुआँ ही जिम्मेदार है।

हमारे देश में पिछले 20 वर्षों में वाहनों से होने वाले प्रदूषण में आठ गुनी और औद्योगिक प्रदूषण में चार गुनी वृद्धि हुई है जबकि आर्थिक विकास में महज ढाई गुने की बढ़ोतरी हुई है। दिल्ली, मुम्बई, कलकत्ता, मद्रास और अन्य बड़े शहरों में वायु प्रदूषण सारी हदें पार कर चुका है। बंगलोर को अस्थमा की राजधानी कहा जाने लगा है। अध्ययन बताता है कि यहाँ के 60 लाख निवासियों में से 10 प्रतिशत लोग और 18 वर्ष से कम उम्र के 50 प्रतिशत बच्चे वायु प्रदूषण से होने वाली बीमारियों के शिकार हैं। मात्र हवाई जहाज से निकलने वाली गैसों से हमारे देश के 8 हजार लोग हर साल मारे जाते हैं। पिछले 20 वर्षों के दौरान होने वाले तीव्र पूँजीवादी आर्थिक विकास की यह तस्वीर कितनी विद्रूप और घिनौनी है, फिर भी पूँजीवादी मीडिया और कलम घिस्सू बुद्धिजीवी हमेशा इस सच्चाई पर पर्दा डालते हैं।

प्रदूषित पेयजल

आज नदियों में इतना जहर घुल गया है कि इनका पानी जीवनदायी नहीं बल्कि जानलेवा हो गया है। यमुना में पानीपत, समालखा और सोनीपत के कारखानों का विषैला गंदा पानी छोड़ने से अमोनिया का स्तर इतना बढ़ गया है कि कई बार दिल्ली के जल-शोधक प्लांट भी बन्द करने पड़ते हैं। साफ करके इस्तेमाल में लाने के लिए 100 मिलीलीटर पेयजल में 500 से अधिक खतरनाक फीकल कोलिफार्म जीवाणु नहीं होने चाहिए जबकि कई स्थानों पर यमुना के जल में 4.4 लाख से ज्यादा जीवाणु पाये गये जो नहाने लायक पानी से भी 100 गुना ज्यादा खतरनाक है। इस पानी में ऑक्सीजन की मात्रा भी खतरनाक स्तर तक कम पायी गयी और अब इसे पीने लायक बनाने का कोई भी तरीका कारगर नहीं रह गया है। यही हाल गंगा नदी का भी है। तमाम प्रतिबन्धों के बावजूद हरिद्वार से लेकर मुजफ्फरनगर तक सैकड़ों फैक्ट्रियों से बहाया जाने वाला रासायनिक कचरा गंगा में विष घोल रहा है। वैसे तो गंगा को प्रदूषण मुक्त बनाये रखने

के लिए कड़े नियम कानून हैं, लेकिन वे केवल कागजों और फाइलों तक सीमित हैं।

मुजफ्फरनगर के अन्तवाड़ा गाँव से निकलकर मेरठ होते हुए कनौज के निकट गंगा में मिलने वाली काली नदी कैंसर का पर्याय बन चुकी है। इसकी एक झलक नीचे दी गयी तालिका से मिलती है

काली नदी का प्रदूषण

तत्व	अधिकतम मानक	काली नदी में मात्रा	काली नदी में प्रदूषण की अधिकता से होने वाली बीमारी
लैड	0.02	0.18	पेट की बीमारी, उल्टी, नसों में ढीलापन, किडनी की खराबी
कैडमियम	0.01	0.06	बुखार, गुर्दे फेल होना
क्रोमियम	0.05	0.16	नर्वस सिस्टम डैमेज
आयरन	1	7	चर्म रोग, कैंसर

इन तत्वों के अलावा नदियों के पानी में बीएचसी, हैप्टाक्लोर आदि प्रतिबन्धित-कीटनाशक भी खतरनाक मात्रा में पाये गये हैं। हैण्डपम्पों से भी इस नदी का दूषित जल निकल रहा है जिसे पीकर मेरठ के एक ब्लॉक में 250 परिवारों के लोग कैंसर और चर्मरोग की चपेट में हैं और जिन्दगी से तंग आकर वे मौत की भीख माँग रहे हैं। इस इलाके के लोगों में प्रशासन और प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड के प्रति नफरत और आक्रोश है। कई बार वे अधिकारियों को बन्धक बना चुके हैं, फिर भी सरकार के कानों पर जूँ नहीं रेंगती। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के भूजल में हर जगह काफी अधिक मात्रा में टीडीएस रसायन घुलमिल चुका है, जिससे अनगिनत लोग पथरी की बीमारी से पीड़ित हैं। दिल्ली के पास से गुजरने वाली हिण्डन नदी इतनी अधिक प्रदूषित हो गयी है कि उसके आस-पास के गाँवों में लोग अपनी बेटी की शादी करने से भी कतराते हैं। उच्च वर्ग और उसकी सरपरस्त सरकारें भला इस बात से क्यों चिन्तित होंगी? उनके लिए तो वाटर फिल्टर और मिनरल वाटर है ही। पानी बेचने वाली कम्पनियाँ इस जानलेवा प्रदूषण का लाभ उठाते हुए करोड़ों-अरबों की कमाई कर रही हैं। साथ ही इससे उत्पन्न बीमारियों का इलाज करने वाले डॉक्टर भी अपनी तिजोरी भर रहे हैं।

पर्यावरण संकट के कारण भूजल स्तर में भी तेजी से गिरावट आयी है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के ट्यूबवेलों ने पानी देना कम कर दिया है। कई ट्यूबवेल सूख चुके हैं। महँगे

सबमर्सिबल पम्प लगाने के बावजूद उनसे पर्याप्त पानी नहीं आ रहा है। सन् 2007 में गंगा नहर में भी पानी की मात्रा काफी कम हुई है। भूजल स्तर गिरने के पीछे मुख्य कारण नहरों की तली पक्की होना, तालाबों का सूखना और भराव, बारिश की कमी और भूजल का बेहिसाब दोहन है। प्रदूषण और कचरा जमा होने से नदियाँ छिछली हो गयी हैं और कटाव रोकने में सरकार की लापरवाही के कारण उनके कगार टूट कर कमजोर होते गये हैं। संकरी हो चुकी यमुना वर्ष 2010 में बारिश का पानी सम्भाल नहीं पायी और उसके कमजोर तटबन्ध टूट गये जिससे हरियाणा के ग्रामीण इलाकों में बाढ़ आ गयी। यही स्थिति दूसरे देशों की भी है। वर्ष 2000 से 2004 के बीच जल उपलब्धता में भारी कमी के चलते दक्षिण एशिया के 46.2 करोड़ लोग सूखे की चपेट में आकर मौत या विस्थापन के शिकार हुए।

देश के अन्य इलाकों में भी जल संकट गहरा रहा है। 230 किलोमीटर क्षेत्र में फैली राजस्थान की खारे पानी की सांभर झील सूखने के कगार पर है। इस झील से सालाना दो लाख नब्बे हजार टन नमक उत्पादन के बावजूद इस इलाके में भयावह गरीबी है। भूजल के अत्यधिक दोहन के कारण आस-पास के गाँवों में पेयजल की समस्या पैदा हो गयी है। दरअसल नमक के बाजार मूल्य 10 रुपये प्रति किलो में से 40 पैसे ही मेहनत करने वाले उत्पादकों को मिलता है। बाकी उद्योगपति और व्यापारी डकार जाते हैं। नमक उत्पादन के काम में छोटी-बड़ी कई कम्पनियाँ कारोबार फैला चुकी हैं। इनमें से 74 प्रतिशत कम्पनियाँ गैर कानूनी हैं। मजदूरों से यहाँ प्रतिदिन 9-10 घण्टे नंगे पैर काम कराया जाता है जिससे उनके चेहरों पर झुर्रियाँ और पैरों में फफोले पड़ जाते हैं। इसने वहाँ की एक पूरी पीढ़ी को जवानी में ही बूढ़ा बना दिया है। ये लोग 45 की उम्र तक पहुँचने से पहले ही मर जाते हैं। यही हाल देश के उन समुद्र तटीय इलाकों का भी है जहाँ नमक बनाया जाता है।

दक्षिण गुजरात के बलसाड जिले का तदगाम समुद्री किनारा बदबूदार विषैले कीचड़ से पट चुका है। इस इलाके की रसायन, उर्वरक, कीटनाशक, खरपतवार नाशक और दवाईयाँ बनाने वाली 300 कम्पनियाँ विषैले कचरे को दसियों किलोमीटर लम्बे पाइपों के जरिये किनारे पर बहाती रहती है। कानून के मुताबिक इन कचरों को समुद्र में छोड़ने से पहले इन्हें कचरा ट्रीटमेंट प्लांट से शोधित करना चाहिए और दिन में दो बार शोधित कचरे की गुणवत्ता की जाँच होनी चाहिए। कम्पनियाँ ऐसे किसी कानून की परवाह नहीं करती हैं। कचरा ले जाने वाली पाइपें सड़ चुकी हैं। उनसे रिसने वाला जहरीला पानी गाँवों के पेयजल को प्रदूषित कर रहा है जिससे वहाँ के 60 प्रतिशत स्थानीय लोगों में पाचन, त्वचा

और साँस सम्बन्धी बीमारियाँ फैल चुकी हैं। साथ ही इससे वहाँ की फसल चौपट हो रही है और पालतू मवेशी मर रहे हैं।

गुजरात प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड के मानक के अनुसार परीक्षण में वही जल शुद्ध माना जायेगा जिसमें मछलियाँ कम से कम 90 दिनों तक जिन्दा रह सकें। इस इलाके के समुद्री जल का आलम यह है कि परीक्षण के लिए भेजे गये जल में मछली 5 मिनट में ही मर गयी। यही वजह है कि मछली, केकड़ा और झींगा के अभाव में इन पर निर्भर बगुला, टिटिहरी और समुद्री पक्षी भी दुर्लभ होते जा रहे हैं।

पाइप बिछाने और विषैले अवशिष्टों से इलाके के पर्यावरण को क्षति पहुँचाने के बारे में ग्रामीणों से सलाह लेना तो दूर, उन्हें इसकी सूचना भी नहीं दी गयी। यही है हमारे देश की जनता के द्वारा, जनता के लिए, जनता का शासन! एक अपाहिज लोकतंत्र जिस पर मुट्ठीभर पूँजीपतियों का वर्चस्व है। इन कम्पनियों के संचालन में न तो सामान्य ग्रामीण और न ही उनका कोई प्रतिनिधि शामिल है। प्रदूषण के खिलाफ ग्रामीणों के विरोध करने पर उनके नेता को या तो जान से हाथ धोना पड़ता है या उन्हें खरीद लिया जाता है। स्थिति बदतर हो चुकी है। गुजरात प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड और गुजरात औद्योगिक विकास संघ भी नियम-कानूनों का पालन नहीं करता है। ग्रामीणों ने फोटो, विडियो, वैज्ञानिक रिपोर्टों और आँकड़ों के आधार पर याचिका दायर की थी, लेकिन नतीजा ढाक के तीन पात। इस तरह जनता की लड़ाई कानूनी दाँव-पेंच की भूल-भूलैय्या में उलझकर रह जाती है और इन्हीं कमजोरियों का फायदा उठाकर कम्पनियाँ अपने अपराध को बदस्तूर जारी रखती हैं। प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड के मानकों और न्यायालय के आदेशों को वे अपने जूते की नोक पर रखती हैं। अलंग (गुजरात) का पुराने, सड़े-गले विदेशी जहाजों को निपटाने का काम हो या तमिलनाडु का कपड़ा उद्योग, देश के अन्य इलाकों के औद्योगिक क्षेत्र का भी यही हाल है। आगरा की फैक्ट्रियों से निकलने वाले अम्लीय धुएँ से ताजमहल जैसी सांस्कृतिक धरोहर भी नहीं बच पाया। उत्तर प्रदेश प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड और न्यायालय के द्वारा भेजे गये नोटिस को इन फैक्ट्रियों ने नजरअन्दाज कर दिया। उद्योगपति कहते हैं कि अगर फैक्ट्री बन्द हुई, तो वहाँ काम करने वाले मजदूर बेरोजगार हो जायेंगे। लेकिन उनको असली चिन्ता अपने मुनाफे की है। वे मजदूरों का निर्मम शोषण करते हैं, उनके वेतन और भत्ते डकार जाते हैं और मजदूरों के द्वारा विरोध करने पर पुलिस और स्थानीय गुण्डों से उनका दमन करवाते हैं। सरकार की ओर से उन्हें मनमानी करने की खुली छूट है। जब देशी-विदेशी पर्यावरणवादी संस्थाओं का दवाब पड़ता है, तो कुछ बयानबाजी और बंदर घुड़की दी जाती है, लेकिन फिर सब कुछ पुराने ढर्रे पर चलने लगता है। निजी मुनाफे के आगे सार्वजनिक विनाश की भला कौन परवाह करे।

खेती और जलवायु परिवर्तन

खेती में रासायनिक खाद और डीजल का इस्तेमाल तथा फसलों से उत्सर्जित कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा के चलते ग्लोबल वार्मिंग में बहुत अधिक वृद्धि नहीं होती है, क्योंकि पेड़-पौधे उसे अवशोषित कर इसके प्रभाव को कम कर देते हैं। साथ ही इंसान के अस्तित्व की शर्त होने के कारण खेती से होने वाले कार्बन डाइ ऑक्साइड उत्सर्जन को पूरी तरह रोकना सम्भव नहीं है। लेकिन इसे काफी हद तक नियोजित और नियन्त्रित किया जा सकता है।

खेती पर जलवायु परिवर्तन का दुष्प्रभाव साफ तौर पर दिखने लगा है। जलवायु परिवर्तन के लिए अन्तरसरकारी पैनल (आई पी सी सी) के अनुसार वर्ष 2030 तक कुछ इलाकों को छोड़कर दुनिया के बड़े भूभाग के कृषि उत्पादन में 30 प्रतिशत तक गिरावट आएगी। दशकों से जारी सूखे और रेगिस्तानीकरण से ग्रसित अफ्रीका के दार्फुर में तब खूनी संघर्ष शुरू हो गया जब वहाँ के अगरा आदिवासी अपने मवेशियों के साथ पानी की तलाश में खेतिहर ग्रामीण समुदायों के इलाके में घुस गये।

रिपोर्ट के मुताबिक वायुमण्डल में कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा बढ़ने से कुछ फसलों की पैदावार में वृद्धि हो सकती है। लेकिन अधिक गर्मी की चपेट में आकर फसलों का जीवन-चक्र छोटा हो जायेगा, जिससे उत्पादकता में बहुत ज्यादा गिरावट होगी। साथ ही, खाद्य पदार्थों में लौह, जिंक और प्रोटिन जैसे पोषक तत्त्वों की मात्रा घट जायेगी, चारे की फसल में नाइट्रोजन की कमी से जानवरों के पाचन तंत्र कमजोर हो जायेंगे तथा बांग्लादेश, भारत और वियतनाम के समुद्र तट डूबने से धान के खेत उजड़ जायेंगे।

ग्लोबल वार्मिंग के कारण उत्तर प्रदेश में अब हर साल मानसून 10-20 दिन देरी से पहुँचता है और उसके बाद होने वाली मूसलाधार बारिश में छोटी नदियों में बाढ़ आ जाती है। गाँवों और मुहल्लों में पहले तालाब, गड्ढे, नाले और छोटी नहरें हुआ करती थीं, जिनसे होकर बरसात का पानी बह जाता था। इससे अतिवृष्टि अधिक तबाही नहीं मचा पाती थी। खेती और आवास के लिए जल निकासी के संसाधनों को पाट दिया गया, जिसके कारण बरसात का पानी सीधे खेतों को डूबोकर फसल चौपट कर देता है और कच्चे

घरों को क्षतिग्रस्त कर देता है। उत्तर प्रदेश के 3.55 करोड़ लोग सीधे खेती से रोजगार पाते हैं जिनमें से 90 प्रतिशत छोटी जोत वाले किसान और भूमिहीन मजदूर हैं। इनमें से 70 प्रतिशत लोग पर्यावरण संकट की विभीषिका झेल रहे हैं।

विकास योजनाओं के नाम पर खेती योग्य भूमि का अधिग्रहण, मानसून के दौरान सूखा पड़ना, छोटी नदियों में बाढ़, तेजी से कटते वृक्ष, बंजर होती जमीन और घटते भूजल के कारण खेती की उत्पादकता तेजी से गिर रही है। 2009 में मानसून की कमी से देश के कुछ भागों में सूखा और आकाल पड़ा। इसके बावजूद राहत पैकेज की जिम्मेदारी केन्द्र और राज्य सरकारें एक-दूसरे पर टालती रहती हैं। खाद, बीज, डीजल की तेजी से बढ़ती कीमतों ने किसानों की कमरतोड़ दी है। खेती घाटे का सौदा हो गयी है। कई किसान खेती से उजड़कर हमेशा के लिए उजरती मजदूर बन गये हैं और कई किसान साहूकारों के चंगुल में फँसकर आत्महत्या करने को मजबूर हो गये हैं।

हरित क्रान्ति : पूँजीवादी खेती का कहर

यह निर्विवाद है कि हरित क्रांति ने खाद्यान्न के मामले में देश को एक हद तक आत्मनिर्भर बनाया, लेकिन उससे भी बड़ा सच यह है कि हरित क्रांति का अगुआ प्रान्त पंजाब आज इसके बुरे अंजाम भुगत रहा है। अमरीका की सलाह और सहायता से 1960 के दशक से शुरू हुई हरित क्रांति पूँजीवादी खेती का एक नमूना है जिसमें अनाज का उत्पादन लोगों की भूख मिटाने के लिए नहीं, बल्कि बाजार के लिए किया जाता है। इसके तहत अधिक मुनाफा देने वाली गेहूँ, धान, कपास और गन्ने की एकफसली खेती को बढ़ावा दिया गया, जबकि दलहन, तिलहन और मोटे अनाज की परम्परागत फसलों की उपेक्षा की गयी। इससे फसल चक्र प्रभावित हुआ तथा मिट्टी की उर्वरता, नमी और भुरभुरेपन में कमी आयी। इसकी भरपाई के लिए रासायनिक खाद, कीटनाशक और भूजल का बेअन्दाज इस्तेमाल किया जाने लगा जिससे भूजल खतरनाक स्तर तक गिर गया, जमीन जहरीली हो गयी और किसानों के मित्र कहे जाने वाले जीव-जन्तुओं और खरपतवारों का भारी पैमाने पर विनाश हुआ। मिट्टी के आवश्यक अवयव कार्बनिक पदार्थ और खनिज लवण नष्ट हो गये तथा मिट्टी की ऊपरी परत कठोर हो गयी। खेती का प्राकृतिक और संतुलित ढाँचा चरमरा गया और पर्यावरण को अपूरणीय क्षति हुई। इसके अलावा पंजाब की जनता आज हरित क्रांति के तीन बुरे नतीजों कर्ज, कैंसर और पेयजल संकट की मार झेल रही है।

पूँजी और तकनीक पर निर्भर, छोटे और सीमान्त किसानों को हरित क्रान्ति का लाभ

नहीं मिला। ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ साधन-सम्पन्न लोगों की सम्पत्ति में तो बेहिसाब बढ़ोतरी हुई, लेकिन बड़ी संख्या में गरीब किसानों का जीवन-स्तर बद से बदतर होता चला गया। इसने एक नये वर्ग-विभाजन को जन्म दिया। इसी का परिणाम है कि भारत का अन्न भण्डार माना जाने वाला पंजाब आज भूख और कुपोषण के मामले में अफ्रीका के गरीब देशों से भी आगे है। यहाँ तक कि भरपेट खाने वाले लोगों को भी पर्याप्त मात्रा में पोषक-तत्व नहीं मिलता जिससे वे कुपोषण के शिकार हैं। एक चौंकाने वाली खबर यह है कि यहाँ माँ-बाप अपने बच्चों के लिए खिलौने की जगह व्हीलचेयर खरीदने को मजबूर हैं।

एक अध्ययन के अनुसार उत्तर भारत के सबसे अधिक उपजाऊ क्षेत्र गंगा-यमुना के दोआबा में सतह से एक फुट नीचे की जमीन पथरीली होने लगी है और पूरे देश की 14.6 करोड़ हेक्टेयर उपजाऊ भूमि बंजर हो गयी है। हरित क्रान्ति के अदूरदर्शी पुरोधाओं ने तात्कालिक लाभ के लिए देश को पर्यावरण संकट में धकेल दिया और वर्तमान शासक वैश्वीकरण के तहत खेती को साम्राज्यवादी देशों की दैत्याकार कम्पनियों के हवाले करते जा रहे हैं। इसे ही वे दूसरी हरित क्रान्ति का नाम दे रहे हैं। जैव विविधता का विनाश करने वाले निरवंसिया (बी.टी.) बीज, जीन टेक्नोलॉजी और कारपोरेट खेती को बढ़ावा दिया जा रहा है। देश के कई अन्य इलाकों में डॉलर कमाने के लोभ में खाद्यान्न की जगह जट्रोफा, केला, युक्लिप्टस, नारियल, फूल, सफेद मूसली और पीपरमेन्ट की खेती को बढ़ावा देकर पर्यावरण का विनाश किया जा रहा है। बैंक या साहूकारों से कर्ज लेकर इन फसलों की खेती करने वाले किसान फसल बर्बाद होने या उचित दाम न मिलने से तबाह हो रहे हैं। देश भर में लाखों किसान आत्महत्या कर चुके हैं। और कई इलाकों में वे आत्महत्या करने के बजाय साहूकारों के साथ-साथ सरकार की किसान विरोधी नीतियों के खिलाफ भी संघर्ष कर रहे हैं, ताकि कर्ज वसूली के भय से भविष्य में कोई अन्य किसान आत्महत्या करने को मजबूर न हो।

गायब होते ग्लेशियर और मरती नदियाँ

ग्लेशियर जलवायु परिवर्तन के प्रति अत्यन्त संवेदनशील और उसके सही सूचक होते हैं। जब जलवायु ठण्डी होती है तो वे फैलते हैं और जब गर्म होती है तो सिकुड़ जाते हैं। एक अध्ययन के अनुसार दुनिया के लगभग एक लाख ग्लेशियरों का क्षेत्रफल सन्

1980 से लगातार सिकुड़ता जा रहा है। हिमालय के ग्लेशियर पिघलने से आस-पास के इलाके बुरी तरह प्रभावित हो रहे हैं।

आई पी सी सी की चौथी मूल्यांकन रिपोर्ट में बताया गया है कि दुनिया में सर्वाधिक तेजी से पिघलने वाले हिमालय के ग्लेशियर हैं। यदि वे इसी रफ्तार से पिघलते रहे तो सन् 2085 तक या तो लुप्त हो जायेंगे या शायद 5 लाख वर्ग किलो मीटर के वर्तमान क्षेत्रफल का केवल पाचवाँ हिस्सा ही बचा रह जायेगा। नतीजा यह कि आगे चलकर इस इलाके की सदानीरा नदियाँ बरसाती नाले में बदल जायेंगी। आई पी सी सी के ये अनुमान विवादों के घेरे में हैं और शायद इसमें त्रुटि भी हो, लेकिन यह तथ्य निर्विवाद है कि पिछले सौ सालों में हिमालय के साथ-साथ भारत के अन्य भागों का औसत तापमान 0.42 से 0.57 डिग्री सेल्सियस बढ़ चुका है और हिमालय के ग्लेशियर तेजी से पिघल रहे हैं। पिछले 61 सालों में गंगोत्री ग्लेशियर हर साल 18.8 मीटर की दर से पिघल रहा है जिससे इसका क्षेत्रफल 1.147 वर्ग किलोमीटर कम हो गया है। बर्फ पिघलने की तेज रफ्तार के कारण ही गंगा नदी ग्लेशियर के नीचे से नहीं, बल्कि सतह के ऊपर से प्रवाहित हो रही है।

50 करोड़ लोगों के लिए जीवनदायी हिमालय की नदियाँ अस्तित्व के संकट से जूझ रहीं हैं। इनसे निकलने वाली यमुना, गंगा, ब्रह्मपुत्र और सिन्धु नदियाँ उत्तर भारत, बांग्ला देश और पाकिस्तान को अपने जल से सिंचित रखती हैं, लेकिन तेजी से पिघलते ग्लेशियर और बढ़ते प्रदूषण से नदियों के पानी की मात्रा और गुणवत्ता में कमी आ रही है। एक पौराणिक कथा के अनुसार भगीरथ ने अपने पूर्वजों का पाप धोने के लिए शिवजी से विनम्र निवेदन कर स्वर्ग की पुत्री गंगा को पृथ्वी पर अवतरित कराया था। आज उसी गंगा का पवित्र जल प्रदूषण की चपेट में आकर पीने लायक भी नहीं रह गया है। गंगा के किनारे बसे कारखानों का प्रदूषित जल और शहरों के गन्दे नाले बिना जल शोधन किये ही गंगा में बहा दिये जाते हैं जिससे यह गटर में बदलती जा रही है। और तो और, तीर्थ यात्रियों द्वारा गंदगी फैलाये जाने के कारण गंगा का मुहाना, गंगोत्री भी साफ-सुथरा नहीं बचा।

हिमालय की नदियों पर बन रहे बड़े-बड़े बाँधों के विशालकाय जलाशयों से पहाड़ों का संतुलन बिगड़ने लगा है, जिससे पृथ्वी के अन्दर उथल-पुथल की संभावना बढ़ती जा रही है। एक ओर यह पूरा इलाका भूकम्प संवेदी हो गया है, वहीं दूसरी ओर पाला मनेरी, लोहारी नाग और टिहरी के बाँधों ने हजारों एकड़ जंगल, खेत और चारागाह डुबोकर नष्ट कर दिए तथा स्थानीय लोगों को उजाड़कर विस्थापित कर दिया है। सरकार न तो विस्थापित लोगों के पुनर्वास की उचित व्यवस्था कर रही है और न ही ऐसी सैकड़ों

परियोजनाओं पर रोक लगा रही है। जर्मनी जैसे कई देश बड़े बाँधों से परेशान हैं। इसके कारण वहाँ तलछट या गाद जमा होना एक विकट समस्या है जिसकी सफाई के दौरान मछलियाँ मर रही हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि बड़े बाँध विकास के मॉडल नहीं हो सकते हैं। इनका प्रबल विरोध हुआ और इनके खिलाफ बड़े-बड़े आन्दोलन भी हुए, लेकिन अपने संकीर्ण स्वार्थों के चलते शासक वर्ग इसे लगातार बढ़ावा देकर विनाश को बुलावा दे रहे हैं। हिमालय की पहाड़ियों पर वर्फबारी कम होने के कारण पानी के चश्मे, झरनें और झीलें सूखती जा रही हैं। बड़े ग्लेशियरों की अपेक्षा छोटे ग्लेशियर तेजी से पिघल रहे हैं। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) के एक अध्ययन के मुताबिक हिमाचल प्रदेश में सन् 1962 से 2006 के बीच चेनाब, पार्वती और बास्पा की खाड़ी के ग्लेशियरों का पाँचवा भाग लुप्त हो गया, जिससे 395 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र की बर्फ पिघलकर खत्म हो चुकी है। कम जाड़ा, हल्की बर्फबारी और खारदुंग ग्लेशियर का पतला होना लद्दाख में ग्लोबल वार्मिंग के बढ़ते दुष्प्रभाव की ओर संकेत कर रहे हैं। एक जमाना था, जब यहाँ की दुर्गम बर्फीली पहाड़ियों पर पहुँचना मौत को दावत देना था, जहाँ पहुँचते-पहुँचते शिराओं-धमनियों का खून जमने लगता था, जबकि आज वहाँ लोग आसानी से ट्रैंकिग कर रहे हैं। भारत और पाकिस्तान के लिए ये लक्षण शुभ नहीं हैं क्योंकि इन ग्लेशियरों से निकलने वाली नदियाँ इन देशों के करोड़ों निवासियों की प्यास बुझाती हैं। काराकोरम के ग्लेशियर 15-20 मीटर प्रति वर्ष की रफ्तार से पीछे हट रहे हैं। यहाँ पर जल उपलब्धता 1947 में 56 लाख लीटर प्रति व्यक्ति थी जो घटकर सन् 2005 में मात्र 12 लाख लीटर रह गयी है। पाकिस्तान की 45 नहरों की हालत खस्ता है और सिन्धु नदी के बाँधों के जलाशयों में गाद जमा होने के कारण उनकी जल-संचय क्षमता आधी रह गई है। पंजाब और हरियाणा में भूजल के अधिक दोहन से स्थिति काफी खराब है। ग्लेशियरों से मिलने वाले नहरी जल के अभाव में वहाँ दुहरी मार पड़ेगी। इसको देखते हुए कहा जा रहा है कि आने वाले समय में पेयजल सबसे दुर्लभ संसाधन होगा और इस पर कब्जे के लिए लोगों के बीच भयानक संघर्ष छिड़ेंगे।

पहले लद्दाख में जौ, चुकन्दर, नोल-खोल और शलजम जैसी सब्जियाँ ही उगती थीं, लेकिन जलवायु गर्म होने के कारण यहाँ बैंगन, पहाड़ी मिर्च और टमाटर की खेती भी होने लगी है। यहाँ तक कि 9 हजार फीट की ऊँचाई पर उगने वाले सेब और खुबानी अब लद्दाख के 12 हजार फीट ऊँचे पहाड़ों पर भी उगाये जा रहे हैं। उत्प्रवासी पक्षियों ने गर्मी बढ़ने के कारण यहाँ आने का समय बदल दिया है और कम बर्फबारी के कारण घास के मैदानों में लम्बी अवधि तक घास उपलब्ध होती है। एशिया के कुख्यात भूरे बादलों में

कारखानों से निकलने वाले धुएँ के काले और छोटे कण होते हैं जो सूर्य की ऊष्मा को धरती से वापस लौटाकर अन्तरिक्ष में लौटाने के बजाय उन्हें रोक लेते हैं। इससे जाड़े का मौसम गर्म हो जाता है और ग्लेशियर के पिघलने में सहायक होता है।

नेपाल, भूटान और तिब्बत के बीच स्थित, कंचनजंगा की खूबसूरत पहाड़ियों से घिरा सिक्किम भी जलवायु परिवर्तन की विभीषिका से नहीं बच पाया है। सन् 2000 से 2002 के बीच जब वहाँ सूखा पड़ा तो इलायची के पौधों की डालियाँ कमजोर हो गयीं और मौसम नम होने पर उन डालियों पर फफूँदियों का प्रकोप हो गया। अंगमारी की इस बीमारी के चलते इलायची के उत्पादन में 30 से 50 प्रतिशत तक गिरावट आयी। इलायची की खेती करने वाले किसान दर-बदर की ठोकर खाने और दिहाड़ी मजदूरी करने को विवश हो गये। पर्यटकों के लिए मनोरम प्राकृतिक छटा बिखेरने वाले सिक्किम की जैव विविधता आज खतरे में है। प्रकृति के सहचर सिक्किम निवासी लाचार हैं।

सिक्किम के तापमान और सालाना बारिश में भारी उठापटक हुई है। 20 साल पहले जिस जगह एक फुट बर्फ होती थी, आज वहाँ बर्फबारी का नामोनिशान नहीं है। वनस्पतियों पर इसका घातक प्रभाव पड़ रहा है। पहले धीरे-धीरे बर्फ पिघलकर मिट्टी को नम और उर्वर बनाती थी, लेकिन आज बर्फ की कमी, तेज हवा और भारी वर्षा के कारण भूक्षरण हो रहा है और मिट्टी की उर्वरता घटती जा रही है। वहाँ मक्के की बोआई और फूलों का मौसम भी बदल गया है। ठण्ड कम होने से ऊनी कपड़ों की माँग और उनके उत्पादन में गिरावट आयी है। नम और ऊष्ण जलवायु का फायदा उठाकर वहाँ मच्छर भी आतंक मचा रहे हैं। इस तरह गर्मी बढ़ने से वहाँ की जीवन शैली, संस्कृति, उत्पादन कार्य और व्यापार भी प्रभावित हो रहा है।

भविष्य में सिक्किम के तेजी से पिघलते जा रहे 84 ग्लेशियर तबाही और बरबादी के सबब बन सकते हैं। 1990 में जेमू ग्लेशियर के पिघलने से आयी बाढ़ ने पूरी घाटी में तबाही मचायी थी।

''स्वच्छ जल की मछली का ''सारांश'' है नदी का पानी। लेकिन नदी का पानी मछली का ''सारांश'' नहीं रह जाता और उसके अस्तित्त्व का जरूरी साधन नहीं रह जाता, ज्यों ही नदी को उद्योग की सेवा में लगा दिया जाता है, ज्यों ही वह रंग और दूसरे कचरे से प्रदूषित हो जाती है और उसमें मोटरबोट चलने लगते हैं या ज्यों ही इसका पानी नहरों की ओर मोड़ दिया जाता है, जहाँ मामूली नाला भी मछली को उसके अस्तित्व के साधन से वंचित कर सकता है।''

मार्क्स-एंगेल्स, *जर्मन विचारधारा*

मौसम परिवर्तन और बीमारियाँ

धरती का तापमान बढ़ने और मौसम में अचानक उतार-चढ़ाव आने के चलते नयी-नयी बीमारियाँ पैदा हो रही हैं। इसका ताजा उदाहरण वर्ष 2010 में बरसात के मौसम में डेंगू और मलेरिया का प्रकोप है। जिसने पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली में हजारों लोगों की जिन्दगी निगल ली। इन बीमारियों के सभी प्रचलित इलाज बेकार क्यों साबित हुए? क्यों लोग इलाज के दौरान ही अचानक मौत के मुँह में समाने लगे? जिन बीमारियों का बहुत पहले उन्मूलन हो चुका था वे फिर से इतने भयावह रूप में क्यों प्रकट हो रही हैं? यह आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के ऊपर एक बहुत बड़ा प्रश्न है। पूँजीवादी विचारों वाले चिकित्सा विशेषज्ञ दरअसल समस्या को समग्रता में देखने के बजाय उसको एक-दूसरे से अलग-अलग करके देखते हैं। वे लक्षण का इलाज करते हैं जबकि रोग की जड़ तक पहुँचने की कोशिश नहीं करते। वे यह समझ पाने में असमर्थ हैं कि मौजूदा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था चिकित्सा विज्ञान को बौना बना देती है। पारिस्थितिकीय तंत्र में बदलाव अैर जलवायु परिवर्तन के कारण न केवल नयी-नयी बीमारियाँ पैदा होती हैं, बल्कि पुरानी बीमारियाँ पहले से भी अधिक घातक रूप में प्रकट होती हैं। जंगल कटने, बाढ़ और सुखे के कारण वास स्थल में होने वाले बदलावों के चलते रोग के वाहक तेजी से अनुकूलित होते हैं। विज्ञान आज इसके घातक स्वरूप के आगे लाचार है, क्योंकि आरसिन और आइसोनेक्स जैसी दवायें भी इसके इलाज में कारगर नहीं रह गयीं हैं। टी.बी. के जीवाणु ने इन दवाओं के खिलाफ प्रतिरोध क्षमता विकसित कर ली। इस बीमारी से ग्रस्त रोगियों में से मरने वालों की संख्या 50 से 70 प्रतिशत हो गयी है।

गरीबों की बस्तियाँ रोग के कीटाणुओं को पनपने के लिए अनुकूल माहौल उपलब्ध कराती हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में भारी संख्या में बच्चों की निगलने वाली इन्सेफलाइटिस (जापानी बुखार) से पीड़ित 60 प्रतिशत रोगियों के आवास के आसपास बरसात का सड़ता पानी जमा रहता है। यही पानी रिसकर भू जल में मिल जाता है जिसे पीकर लोग बीमार पड़ते हैं। लेकिन चिकित्सा के पेशे से जुड़े लोगों के लिए गरीबी और पर्यावरण कोई मुद्दा नहीं है जो खुद ही एक गम्भीर समस्या बन चुका है। ऐसे में रोगाणुओं

के विरुद्ध एण्टीबायोटिक टीकाकरण और अन्य दवाएँ भला कैसे कारगर हो सकती हैं। इसीलिए संक्रामक बीमारियाँ इन उपायों के बाद भी खत्म नहीं हुई हैं। पिछले दिनों पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पोलियो के खतरनाक वायरस की दोबारा वापसी इसका ताजा उदाहरण है। जब मेडिकल प्रशासन की लापरवाही और उचित रख-रखाव के चलते खराब हो चुके टीके अनपढ़ गरीब लोगों को लगा दिये जायें तो भला क्या होगा! क्या केवल दवा की खोज करने से बीमारियाँ डरकर भाग जायेंगी?

संक्रामक बीमारियों का दुबारा फैलना तो आने वाले भयावह संकट की अभिव्यक्ति मात्र है। मुनाफे के लिए जंगलों को उजाड़ा जा रहा है जिससे वातावरण नष्ट-भ्रष्ट होकर नयी-नयी बीमारियों को जन्म दे रहा है। कीटनाशकों और विषैले रसायनों ने लाभदायक सुक्ष्म जीवों का ही नाश नहीं किया बल्कि इसके खतरनाक रोगाणुओं को अपनी क्षमता बढ़ाने के लिए प्रेरित भी किया। यही कारण है कि पहले से भी ज्यादा घातक मच्छर अब मानव बस्तियों पर आक्रमण कर रहे हैं। यह दीगर बात है कि हर विपत्ति को मुनाफे में बदलने वाली कम्पनियाँ मच्छरों को भगाने के लिये नये-नये उत्पाद बनाकर बेहिसाब मुनाफा निचोड़ रही हैं। ऊपर से स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण करके सरकार ने बीमारियों से त्रस्त जनता को मुनाफाखोर डॉक्टरों और निजी अस्पतालों के आगे असहाय छोड़ दिया है। समस्या को तंग दायरे में समझने के कारण ही आज वैज्ञानिक शोध और तकनीक की भारी असफलता सामने आ रही है।

आज जरूरत इस बात की है कि हम प्रकृति, मानव समाज और चिकित्सा विज्ञान के अर्न्तसम्बन्धों को गहराई से समझें और नयी-नयी महामारियाँ पैदा करने वाली गैर-बराबरी पर आधारित इस रुग्ण व्यवस्था का इलाज ढूंढें।

जीव-जन्तुओं का अस्तित्व खतरे में

पहले गाँव-देहात तरह-तरह के पेड़-पौधों से गुलजार रहते थे। कलरव करते, गीत सुनाते रंग-बिरंगे पंछी सबका मन मोह लेते थे। गौरेया जिसका हर परिवार से घरेलू रिश्ता होता था, अब हर जगह फुदकती नजर नहीं आती। मृत जानवरों को खाकर पर्यावरण को स्वच्छ रखने वाले गिद्ध अब विषाक्त माँस खाकर लुप्त हो गये। ये जीव-जन्तु हमारे समाज और संस्कृति का अनिवार्य अंग रहे हैं। ग्लोबल वार्मिंग आज न केवल हमारी जीविका और

जीवनशैली को तबाह कर रहा है, बल्कि इसने सदियों पुराने पेड़-पौधे और जीव-जन्तुओं की प्रजातियों के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया है। ईंट, पत्थर और कंकरीट के बढ़ते जंगल, विषैला पानी, धुआँ छोड़ती फैक्ट्रियाँ, उजड़ते जंगल, बढ़ते रेगिस्तान और सूखती नदियाँ ही चारों तरफ दिखाई दे रही हैं। ऐसे में शस्य स्यामला धरती पर प्रकृति के निकट रहने वाले नाजुक जीवों की प्रजातिया खुद को कैसे बचा सकती हैं? प्रतिदिन दर्जनों जीव-जन्तु लुप्त हो रहे हैं। यह समूचे पारिस्थितिकीय तंत्र के लिए खतरे की घण्टी है। गिद्ध, बया, गौरेया, सारस और न जाने कितने अनाम पंछियों के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। प्रकृति के ये मित्र लुप्तप्राय हैं, क्योंकि स्वार्थलोलुप इंसानों ने इनके प्राकृतिक वासस्थान को तहस-नहस कर दिया।

पर्यावरण विशेषज्ञों का मानना है कि दुनिया के औसत तापमान में 1.1 से 6.4 डिग्री सेल्सियस की बढ़ोतरी होने पर जीवों की 30 प्रतिशत प्रजातियाँ सन् 2050 तक खत्म हो जायेंगी। आज करोड़ों साल पहले लुप्त हो चुके डायनासोर को पुर्नजीवित करने के लिए वैज्ञानिक एड़ी चोटी का जोर लगा रहे हैं, जबकि आज लुप्त होती हजारों प्रजातियों को बचाने का कोई सकारात्मक प्रयास नहीं दिखाई देता। पर्यावरण संतुलन के लिए जमीन के 33 प्रतिशत भाग में जंगल होना चाहिए लेकिन अन्धाधुन्ध कटाई के चलते अब भारत में मात्र 19.27 प्रतिशत वनभूमि बची है। कई राज्यों में स्थिति कहीं ज्यादा भयावह है। विकास को लेकर इतराने वाले हरियाणा राज्य में 6.8 प्रतिशत जंगल हैं जिनमें मात्र 3.52 प्रतिशत प्राकृतिक वन हैं। मुनाफे की हवस में जीवनदायी औषधियों और वन्यजीवों को पनाह देने वाले प्राकृतिक जंगलों को कभी बाँध बनाने के लिए, कभी खदानों के लिए तो कभी उद्योग लगाने के लिए मुनाफाखोर पूँजीपति और उनकी हिमायती सरकारें बेरहमी से उजाड़ रही हैं। इसके बदले कुछ सजावटी पेड़ लगाकर क्या इस प्राकृतिक विनाश की भरपाई हो सकती है? प्राकृतिक जंगलों में विविध तरह के घास-फूस, झाड़ियाँ, सरकण्डे, जंगली पेड़, चींटी, केंचुए, कन खजूरे, गिरगिट, चूहे, खरगोश, साँप, लकड़बग्घे, हिरन, शेर, विविध तरह की चिड़ियाँ आदि हजारों जीव-जन्तु और आँख से दिखाई न देने वाले सैकड़ों सूक्ष्म जीव पाये जाते हैं जो लाखों वर्षों में स्थापित परस्पर निर्भर जीवनचक्र निभाते आये हैं। यही जंगल का जैव-विविधतापूर्ण पारिस्थितिकी तंत्र है। कृत्रिम वृक्षारोण से ऐसा जटिल पारिस्थितिकी तंत्र और ऐसी जैव विविधता क्या सौ सालों में भी विकसित हो सकती है? वृक्षारोपण बीमारी का इलाज नहीं, बल्कि रोगी को दिलासा देने वाली छद्म दवा (प्लसींबों) है।

देश में खत्म होते जंगल और वृक्षारोपण अभियान की हकीकत किसी से छुपी नहीं

है। उत्तर प्रदेश के महोबा जिले में मात्र 5.45 प्रतिशत वन क्षेत्र बचा है। जिसमें पायी जाने वाली औषधियाँ सफेद मूसली, सतावर, ब्राम्ही, गुड़मार, हरशृंगार, धतूरा और पिपली के साथ-साथ भेड़िये, तेन्दुए जैसे जंगली जानवर खत्म होने की कगार पर हैं। इसी जिले में वर्ष 2008-09 में स्पेशल ट्री प्लान्टेशन कार्यक्रम के तहत 70 लाख पौधे रोपे गये थे जिनका अस्तित्व अब केवल कागजों पर है। नेताओं द्वारा दो-चार पौधे लगाकर फोटो खिंचवा लेने से क्या इस समस्या का समाधान हो सकता है? इन्हीं की सरपरस्ती में तो पूँजीपति, ठेकेदार, खनन माफिया और वन अधिकारी हर तरह से प्राकृतिक जंगलों को उजाड़ रहे हैं। यही हाल देश के अन्य राज्यों का भी है। उत्तराखण्ड में 64 प्रतिशत वनाच्छादित भूमि है जो उद्योग धन्धों के फैलते जाल के कारण दिनोंदिन घटती जा रही है।

भारत ही नहीं वरन दुनिया के सभी देशों का यही हाल है। ग्लोबल वार्मिंग के कारण दुनिया की सबसे बड़ी और सर्वाधिक जैव विविधतापूर्ण रूस के साइबेरिया की बैकल झील गम्भीर पारिस्थितिकीय संकट का सामना कर रही है। गर्मी बढ़ने और बर्फ कम होने के चलते ठण्डे जलवायु के आदी इस झील के जीवों और मछलियों का भविष्य संकट में है। लातिन अमरीका के वर्षादायी जंगल बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मुनाफे की भेंट चढ़ चुके हैं।

जलवायु परिवर्तन का सामना करने के लिए एक स्वायत्त, पारदर्शी और सभी देशों के लिए समान रूप से संचालित वित्तीय क्रियाविधि के रूप में बिल्कुल अलग से एक अनुकूलन कोष का निर्माण करना आवश्यक है। इस कोष से विकासशील देशों में जलवायु परिवर्तन के दुष्प्रभावों और कीमतों का आकलन करना चाहिए तथा इन प्रभावों से उत्पन्न जरूरतों तथा विकसित देशों द्वारा दिये जाने वाले सहयोग की निगरानी करनी चाहिए। इससे वर्तमान और भविष्य के नुकसानों के लिए मुआवजा, जलवायु में उत्कट और क्रमिक बदलावों के चलते अवसरों का नुकसान और यदि हमारा ग्रह परिस्थितिकीय संकट की चरम सीमा पार कर जाये तो उससे पैदा अतिरिक्त कीमतों, जैसे "बेहतर जीवन" में बाधाएँ डालने वाले प्रभावों की क्षतिपूर्ती के लिए एक क्रियाविधि को शामिल करना जरूरी है।

कोचाबाम्बा मसविदा दस्तावेज से

आदिवासी जातियों का विलुप्त होना

अनन्तकाल से प्रकृति के सानिध्य में रहने वाली आदिवासी जातियों को लुटेरी ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीतियों के चलते दो सौ सालों तक उजाड़ा जाता रहा, यह सिलसिला आज भी जारी है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सन् 2000 में जंगलों और राष्ट्रीय उद्यानों से सूखी लकड़ी और घास काटने पर भी रोक लगाना इसी दिशा में एक और कदम है। यह जंगलों में हरे पेड़ काटने वाले माफियाओं के खिलाफ उठाया गया कदम लग सकता है, लेकिन सच्चाई कुछ और ही है। इस फैसले के चलते अवैध कटाव तो नहीं रुका, मगर यह प्रतिबन्धित वन क्षेत्र में रहने वाले 40 लाख आदिवासियों की जीविका के लिए भारी खतरा साबित हुआ है। एक तरफ वन विभाग को उत्पीड़न का नया हथियार मिला तो दूसरी तरफ इसके चलते लाखों आदिवासी बेरोजगारी, भुखमरी, कंगाली और विस्थापन की पीड़ा झेल रहे हैं। साथ ही कभी खनिज पदार्थों के दोहन के लिए, कभी देशी-विदेशी कम्पनियों को जमीन देने के लिए तो कभी जंगलों की रक्षा के नाम पर उन्हें उजाड़ा जा रहा है। अनुमान है कि आजादी के बाद से अब तक लगभग 2 करोड़ आदिवासियों को विकास परियोजनाओं के नाम पर उनकी हजारों वर्षों से स्थापित जमीन और सभ्यता से उजाड़ कर उन्हें दर-दर की ठोकर खाने को छोड़ दिया गया।

दरअसल आदिवासियों की जीवनशैली में कार्बन उत्सर्जन की बहुत ही कम गुंजाइश होती है। वे पेड़ों के पत्तों से बने दोने-पत्तलों और मिट्टी के बर्तनों से अपना काम चला लेते हैं। लकड़ी के खड़ाऊ, बाँस की चारपाई और दैनिक जीवन की समस्त उपयोगी सामग्री उन्हें वनों से मिल जाती है। इस्तेमाल के बाद ये सभी सामग्री सड़कर प्रकृति में घुल-मिल जाती हैं। कोई कार्बन उत्सर्जन नहीं, कोई प्रदूषण नहीं और शहरीकरण से पैदा होने वाले कचरे के निपटारे की कोई समस्या नहीं। स्थानीय समुदाय और आदिवासी लोग किसी भी प्राकृतिक आपदा के आसन्न खतरे को सबसे पहले भाँप लेते हैं। मौसम और स्थानीय पर्यावरण बिगड़ने पर उनका जीवन तुरन्त प्रभावित होता है। इसीलिए प्रकृति के ये मित्र पर्यावरण प्रदूषण या जंगलों के विनाश के खिलाफ तत्काल संघर्ष छेड़ देते हैं। हम कल्पना कर सकते हैं कि मानवता जिस भयावह पर्यावरण संकट से गुजर रही है, इस स्थिति में

प्रकृति को संरक्षित रखने वाले आदिवासी कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। लेकिन उल्टे उन्हें ही विकास के नाम पर उजाड़ा जा रहा है और विरोध करने पर पुलिस-फौज के दम पर उनका बर्बर दमन किया जा रहा है।

सन् 2006 में पारित और जनवरी 2008 में लागू वनाधिकार कानून वंचित समुदायों के साथ हुए ऐतिहासिक अन्याय और उन्हें उनका हक लौटाने के बारे में जुबानी जमा-खर्च है, जबकि जमीनी हकीकत कुछ और ही है। आदिवासियों का शोषण कर मौज उड़ाने वाले दबंग, परजीवी समुदायों ने कई इलाकों में आदिवासियों के घर जला दिये और उन पर तरह तरह के जुल्म ढाये। इन दबंगों को वन-विभाग, पुलिस प्रशासन और राजनीतिक नेताओं का संरक्षण प्राप्त होता है। लेकिन आज इन अत्याचारों से हार न मानकर आदिवासी और वंचित तबके जल, जंगल, जमीन पर अपने अधिकार के लिए जी-जान से लड़ रहे हैं।

तीसरी दुनिया के देशों में अमीर देशों का कूड़ा-कचरा

पूँजीवाद पर्यावरण का विनाश करता है और साथ ही वह पिछड़े देशों की गरीब जनता को अपने कुकर्मों का फल भोगने के लिए मजबूर करता है। विश्व बैंक के मुख्य अर्थशास्त्री लॉरेन्स समर्स ने दिसम्बर 1991 में एक अन्दरूनी पत्र जारी किया था जिसका खुलासा ब्रिटिश पत्रिका इकोनॉमिस्ट के 8 फरवरी 1992 के अंक में प्रकाशित हुआ। उसमें कहा गया था कि विश्व बैंक को धनी देशों की प्रदूषणकारी औद्योगिक इकाइयों को अल्पविकसित देशों में विस्थापित करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। उसमें यह भी कहा गया था कि कम मजदूरी वाले गरीब देशों में धनी देशों का जहरीला कचरा निपटाने में कोई दोष नहीं है। उसका तर्क था कि स्वास्थ्य और सौन्दर्यबोध के लिहाज से स्वच्छ वातावरण के हकदार वे ही हैं जिनकी आय बहुत अधिक हो। इसका सीधा अर्थ यह है कि साम्राज्यवादियों की निगाह में तीसरी दुनिया की गरीब जनता की जान बहुत सस्ती है, इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा उनका शोषण करना कोई गुनाह नहीं है। लेकिन उनका यह शैतानी रवैय्या केवल तीसरी दुनिया के बारे में ही नहीं है। अपने देशों की गरीब जनता के प्रति नस्लवादी भेदभाव करने और उनकी जिन्दगी नरक करने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होता। अमरीका के लॉस एंजेल्स शहर में जो सबसे गन्दे और प्रदूषित इलाके हैं वहाँ उस शहर के 70 प्रतिशत अफ्रीकी और 50 प्रतिशत लातिन अमरीकी मूल के नागरिक रहते हैं, जबकि केवल 34 प्रतिशत श्वेत अमरीकी उन गन्दे इलाकों में बसे हुए हैं। □

पूँजीवादी समाज में नाना प्रकार के प्रदूषण

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली प्रकृति और मजदूर वर्ग के बेलगाम शोषण पर टिकी हुई है। निजी मुनाफे को बनाये रखने के लिए यह प्रकृति के विनाश की कोई परवाह नहीं करती। औद्योगिक कचरे और धुँए के अलावा अन्य कई तरीकों से यह दुनिया को नारकीय बनाती है और धरती को इन्सानों के रहने लायक नहीं छोड़ती।

विज्ञापन : पूँजीवाद में उत्पादन मुनाफे के लिए होता है न कि सबके उपभोग के लिए। चूंकि पूँजीवादी व्यवस्था में लोगों की क्रय शक्ति लगातार कम होती जाती है, इसलिए बहुत सारा माल बिक नहीं पाता और मंदी छा जाती है। ऐसे में हर पूँजीपति अपने अतिरिक्त माल की अधिक से अधिक बिक्री के लिए विज्ञापन के एक से बढ़कर एक तरीके अपनाता है। साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में पूँजीवाद पूरी दुनिया को माल में बदल देने पर आमादा है। हवा, पानी, जमीन, आदमी, इन्सानी रिश्ते, धर्म, संस्कृति, प्रेम, वात्सल्य हर चीज उसकी निगाह में माल है जिन्हें बेचने और उपभोक्तावाद को बढ़ावा देने के लिए अन्धाधुन्ध विज्ञापन करना जरूरी है। आज दुनिया भर में विज्ञापनों का हजारों अरब रुपये का कारोबार है जिससे सैकड़ों अस्पताल, स्कूल और बेघरों के लिए घर बनाये जा सकते हैं। विज्ञापनों में इस्तेमाल होने वाले कागज के लिए हर साल लाखों पेड़ काटे जाते हैं और सड़कों के किनारे विज्ञापनों के चमकीले बोर्ड को रोशन करने के लिए करोड़ों यूनिट बिजली फूँक दी जाती है।

प्लास्टिक कचरा : प्लास्टिक बैग, उत्पादों के पैकेट, प्लास्टिक के बर्तन, बोतल और डिब्बे इधर-उधर फेंक दिये जाते हैं। जो नालियों में फँसकर उन्हें जाम कर देते हैं। इसके कारण नालियों का कचरा सड़ता रहता है जिससे मच्छर और बीमारी के कीटाणु फैलते हैं। प्लास्टिक का निबटारा करना कठिन है। यह जल्दी सड़ता नहीं, जलाने पर जहरीली गैस पैदा करता है और जमीन को बंजर बना देता है। अपने माल को आकर्षक बनाकर अधिक मात्रा में बेचने के लिए कम्पनियाँ प्लास्टिक की आकर्षक पैकिंग करती हैं। इस तरह यह खतरनाक प्रदूषक हमारी दिनचर्या में पूरी तरह शामिल है। इस पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई भी आदेश लागू नहीं हो पाता क्योंकि यह पूँजीपतियों के स्वार्थ में आड़े

आता है। पोलीथीन प्रदूषण का एक बड़ा जरिया बन गया है और इस हद तक जीवन शैली का अंग बन चुका है कि इससे पीछा छुड़ाना काफी मुश्किल होता जा रहा है।

ओजोन परत का क्षरण : पृथ्वी की सतह से 15-30 किलोमीटर ऊपर ओजोन की परत होती है जो हमें सूर्य से आने वाली घातक पराबैंगनी किरणों से बचाती है। तेजी से फैलते प्रदूषण से यह परत क्षरित हो रही है। खतरनाक पराबैंगनी किरणों के सम्पर्क में आने से शरीर का झुलस जाना, त्वचा कैंसर और मोतियाबिंद का खतरा पैदा होता है। स्प्रे, रेफ्रीजरेटर आदि में इस्तेमाल किया जाने वाला क्लोरोफ्लोरो कार्बन ओजोन परत में छेद के लिए जिम्मेदार है। अन्टार्कटिका की ओजोन परत में बड़ा छेद होने से इस इलाके में गर्मी तेजी से बढ़ रही है। लगभग 90 प्रतिशत क्लोरोफ्लोरो कार्बन अमरीका और विकसित देशों ने उत्सर्जित किया है। हालाँकि इस रसायन के इस्तेमाल पर प्रतिबन्ध लग चुका है, फिर भी चोरी-छिपे इसका इस्तेमाल जारी है। साथ ही वायुमंडल में पहले से मौजूद इस जहर के प्रभाव को खत्म होने में पचासों साल लगेंगे।

चिकित्सकीय कचरे से प्रदूषण : चिकित्सा में उपयोग किये जाने वाले उपकरणों का उचित निपटारा न होने से ये बीमारी फैलाने के स्रोत बन गये हैं। ऐसे ही एक रसायन कोबाल्ट 60 के कचरे से विकिरण होने के चलते पिछले दिनों दिल्ली में कई व्यक्ति घायल हो गये। इसका असर वातावरण में काफी समय तक रहता है और लोगों को मौत का शिकार बनाता है।

इलेक्ट्रॉनिक कबाड़ से प्रदूषण : टेलीविजन, मोबाइल, कम्प्यूटर, रेफ्रीजरेटर और अन्य इलेक्ट्रॉनिक सामानों से भारत में हर साल 38 लाख क्विन्टल कबाड़ पैदा होता है। इतना ही नहीं, हमारे देश के कबाड़ी हर साल 5 लाख क्विन्टल कचरा विदेशों से आयात करते हैं। इस कबाड़ को दुबारा इस्तेमाल के लिए गलाने के दौरान बड़ी मात्रा में विषैली गैस और रसायन उत्पन्न होते हैं जो पर्यावरण को बुरी तरह प्रभावित करते हैं। धनी देश अपने यहाँ से पुराने रद्दी कपड़े, जूते, कम्प्यूटर, बेल्ट, बैग और अन्य घरेलू सामान हमारे देश में गरीबों के लिए दान के रूप में भेज देते हैं। हर छोटे-बड़े शहर में इन पुराने सामानों की धड़ल्ले से बिक्री होती है। दरअसल यह उन देशों का कचरा ही है। जिसे निबटाना उनके लिए एक भारी समस्या है। इस तरह गरीब देशों को कूड़ेदान बनाया जा रहा है और इस पर इन देशों के शासकों की मौन सहमति है।

वैश्वीकरण और प्राकृतिक सम्पदा की लूट

हमारे देश में 1970 और 1980 के दशक में पर्यावरण के प्रति लोगों की जागरुकता बढ़ी। हिमालय के जंगलों को बचाने के लिए चिपको आन्दोलन, मध्य और दक्षिण भारत में बड़े बाँधों के खिलाफ आन्दोलन तथा विदेशी कम्पनियों को मछली मारने का लाइसेन्स देने के खिलाफ मछुआरों के आन्दोलन के बाद सरकार को पर्यावरण सम्बन्धित कई नियम-कानून पारित करने पड़े। लेकिन 1991 में उदारीकरण, वैश्वीकरण और नई आर्थिक नीतियों ने विदेशी निवेशकों को लुभाने के लिए इन कायदे-कानूनों की धज्जियाँ उड़ानी शुरू की। विदेशी लुटेरों के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था के कपाट खोलना, निर्यातोन्मुखी विकास को बढ़ावा देना, विदेशी मालों की खपत बढ़ाने के लिए मध्यमवर्ग में विलासिता और उपभोक्तावाद का प्रचार-प्रसार करना, सरकारी उपक्रमों का निजीकरण तथा श्रम और पर्यावरण कानूनों में ढील देना इन्हीं नीतियों का परिणाम था। फिर तो एक तरफ जहाँ मुट्ठी भर ऊपरी तबके के लिए विकास की बयार बहने लगी, वहीं दूसरी तरफ भयंकर गरीबी की काली आँधी चलने लगी। गिने-चुने अभिजात वर्ग के लिए समृद्धि के पहाड़ खड़े किये गये, जबकि देश की बहुसंख्य जनता कंगाली-बदहाली के भँवर में फँसती गयी। करोड़ों मजदूरों की जिन्दगी नरक से भी बदतर हो गयी, लाखों किसानों ने आत्महत्या की और देश के भावी कर्णधार युवा वर्ग के भविष्य में अन्धकार छा गया। इतना ही नहीं, देशी-विदेशी पूँजीपतियों ने हमारी धरती माँ को इतनी बेरहमी से लूटा कि जल, जंगल, जमीन और सम्पूर्ण वातावरण को नष्ट कर डाला।

आज एक-एक गाँव, कस्बा और शहर पर्यावरण विनाश की दर्दनाक कहानी बयान कर रहा है। विश्व पर्यावरण सम्मेलन में बड़ी-बड़ी डींगें हाँकने वाले हमारे शासक हमारी थालियों में जहरीला खाना और प्रदूषित जल परोस रहे हैं, जिससे नयी-नयी बीमारियों की चपेट में आकर लाखों देशवासी असमय मौत के शिकार हो रहे हैं।

नयी आर्थिक नीति के तहत 1997 से अब तक खनन के लिए 70 हजार हेक्टेयर जंगलों का कटान किया गया। 1947 से अब तक विकास के नाम पर अपनी जमीन से उजाड़े गये 6 करोड़ लोग विस्थापितों की जिन्दगी जी रहे हैं। इसके लिए पूँजीपति, प्रशासन

और नेताओं ने कई हथकण्डे अपनाये हैं, जैसे इलाके के मुखर तबके और मुखिया को पैसे से खरीदना और पटाना, जन विरोधी, पर्यावरण नाशक नीतियों का विरोध करने वालों को विकास विरोधी और देशद्रोही बताकर उन्हें जेल में डालना, आदिवासी इलाकों में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस भेजकर स्थानीय लोगों के विरोध का दमन करना और जनता में फूट डालकर एक हिस्से को दूसरे से लड़ाना। इन इलाकों में रहने वाले इंसान जब इतनी बुरी तरह प्रभावित हैं, तो जंगली जीवों का क्या हश्र हुआ होगा? बाघों और कछुओं के लुप्त होने पर हाय-तौबा मचाने वाले स्वयं सेवक और मीडिया क्या कभी पर्यावरण के दुश्मन सत्ताधारियों को बेनकाब करते हैं?

हमारे देश की लगभग एक लाख बीस हजार वनस्पतियों और 10 फीसदी जन्तुओं की प्रजातियाँ लुप्त होने वाली हैं। खनिज पदार्थों के बेलगाम दोहन के चलते 90 राष्ट्रीय उद्यानों और अभ्यारण्यों का अस्तित्व खतरे में है। इन अनमोल प्राकृतिक संसाधनों का अपने देश के हित में इस्तेमाल नहीं होता बल्कि उन्हें विदेशी मुद्रा के लोभ में निर्यात कर दिया जाता है।

'पर्यावरण प्रभाव का मूल्यांकन' और 'समुद्र तट नियमन' जैसे पर्यावरण संरक्षण कानूनों को बेअसर और कमजोर बताकर सरकार पूँजीपतियों को फायदा पहुँचाने में लगी हुई है। जनान्दोलनों के दबाव के कारण सन् 2006 में केंद्र सरकार को राष्ट्रीय पर्यावरण नीति की घोषणा करनी पड़ी, लेकिन इसमें भी आर्थिक मुद्दों को पर्यावरण से ऊपर रखा गया। लोगों की जीविका को संरक्षित करने के लिए बनाया गया जैव-विविधता अधिनियम नख-दन्त विहीन है। विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) में पर्यावरण के मुद्दे की पूरी तरह अनदेखी की जा रही है। आज मुट्ठी भर सम्पन्न लोग जितना अधिक प्राकृतिक संसाधनों का उपभोग कर रहे हैं, वह धरती के पर्यावरण संतुलन को कायम रखने की क्षमता से काफी अधिक है। पिछले चार दशकों में विकास के लिए प्राकृतिक संसाधनों के अन्धाधुंध दोहन से धरती की यह क्षमता आधी रह गई है। इसके बावजूद सरकार और उसके बुद्धिजीवी टिकाऊ और संतुलित विकास की लफ्फाजी करते रहते हैं।

जहाँ शोषण, अन्याय और पर्यावरण का विनाश हो रहा है वहीं इस विनाशकारी विकास के खिलाफ जनता के स्वतःस्फूर्त, स्थानीय और मुद्देवार आन्दोलन भी हो रहे हैं। बड़े बाँधों के विनाशकारी प्रभाव के खिलाफ उत्तराखण्ड के पर्यावरणविदों, सिक्किम के भिक्षुओं, अरूणाचल प्रदेश के नौजवानों, नर्मदा के तट पर बसे हजारों गाँवों के निवासियों और असम के किसानों का विरोध, जहरीला रासायनिक कचरा फैलाने वाली कोका कोला कम्पनी के खिलाफ कई इलाकों में ग्रामीणों का आन्दोलन, हाइटेक शहर कारपोरेट खेती

और विशेष आर्थिक क्षेत्र के लिए जमीन अधिग्रहण के खिलाफ किसानों का संघर्ष और देश के विभिन्न इलाकों में सालेम, वेदान्ता और पॉस्को जैसी मुनाफाखोर विदेशी कम्पनियों के खिलाफ आदिवासियों और स्थानीय जनता के आंदोलन आज काफी हद तक सरकार और लुटेरी कम्पनियों की राह में रोड़े अटका रहे हैं। लेकिन एकजुटता के अभाव, शासक वर्ग की कुटिल चाल और बर्बर दमन-उत्पीड़न के चलते ये आन्दोलन कमजोर पड़ जाते हैं। इन जनान्दोलनों के प्रभाव और बढ़ती जागरुकता के कारण कई राज्यों में जैविक खेती, प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित उत्पादन, सूखा पीड़ित इलाकों में विकेन्द्रित जल उपयोग की तकनीक और स्थानीय जनता की पहल पर जंगल और जंगली जानवरों का संरक्षण शुरू हुआ है। लेकिन पूँजीपतियों द्वारा जारी पर्यावरण विनाश के आगे ये सुधारवादी कदम नाकाफी साबित हो रहे हैं। देशी-विदेशी पूँजी के गठजोड़ से अस्तित्व में आयी लूट-खसोट की इन नीतियों पर जब तक समवेत और संगठित प्रहार नहीं होगा, तब तक इनकी विनाशलीला इसी तरह चलती रहेगी।

मानवता आज एक भारी दुविधा का सामना कर रही है पूँजीवाद, लूटपाट और मौत के रास्ते पर आगे बढ़ना जारी रखे या प्रकृति के साथ समन्वय और जीवन के प्रति सम्मान का मार्ग अपनाये।

एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना बेहद जरूरी है जो प्रकृति के साथ और मानव जाति के बीच आपसी तालमेल के लिए फिर से बहस करे। प्रकृति के साथ सन्तुलन कायम करने के लिए मानव जाति के बीच समानता का होना जरूरी है। हम विश्व जनगण के समक्ष और हर देश के मूल निवासियों के ज्ञान, विवेक और रीति-रिवाजों का उद्धार करने, उनको और अधिक समृद्ध करने तथा मजबूती प्रदान करने का प्रस्ताव रखते हैं। मूल निवासी ''अच्छी जिन्दगी'' के विचार और व्यवहार में पूरी तरह विश्वास करते हैं और धरती माँ को जीवित प्राणी मानते हुए उसके साथ अविच्छिन्न, परस्पर निर्भर, सम्मानपूर्ण और आत्मीय सम्बन्ध रखते हैं। जलवायु परिवर्तन का सामना करने के लिए हमें धरती माँ को जीवन का स्रोत मानते हुए और निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित एक नयी व्यवस्था का निर्माण करना जरूरी है।

कोचाबाम्बा मसविदा दस्तावेज से

जलवायु संकट पर अन्तरराष्ट्रीय वार्ताओं की असलियत

क्वेटो प्रोटोकॉल और उसकी असफलता

ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को नियन्त्रित करने के लिए 1990 के दशक में विश्व स्तर पर प्रयास शुरू हुआ। 1992 में रियो-द जेनेरियो में पृथ्वी सम्मेलन के नाम से पर्यावरण संकट पर पहला विश्व सम्मेलन हुआ। साम्राज्यवादी देशों की नीयत इसी पहले सम्मेलन में सामने आ गयी थी जिसके घोषणा पत्र में कहा गया था कि ''आर्थिक विकास ही ऐसी परिस्थिति तैयार करता है, जिसमें पर्यावरण की सबसे अच्छी तरह रक्षा की जा सके।''

इस सम्मेलन ने विश्व बैंक को दुनिया भर में पर्यावरण सम्बन्धी उपायों की निगरानी करने का कार्यभार सौंपा। विडम्बना यह कि विश्व बैंक ने 90 के दशक में खनिज ऊर्जा के क्षेत्र में वैकल्पिक ऊर्जा की तुलना में 15 गुना अधिक पूँजी निवेश के लिए कर्ज दिया। तब से आज तक जलवायु सम्मेलनों की दिशा कमोबेश यही है। जलवायु परिवर्तन पर सम्मेलन के लिए संयुक्त राष्ट्र निर्देश (यूएनएफसीसी) ने कई दौर की बातचीत के बाद 1997 में जापान के क्वेटो शहर में सम्मेलन करके क्वेटो प्रोटोकॉल नाम से एक दस्तावेज स्वीकार किया। इसके तहत दुनिया में पहली बार औद्योगिक देशों को इस बात के लिए ''कानूनी रूप से बाध्य'' किया गया कि वे अपनी ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को 2008-2012 तक आते-आते 1990 के स्तर से 5.2 प्रतिशत कम करेंगे। इस सहमति के अनुसार यूरोपीय संघ को 8 प्रतिशत, अमरीका को 7 प्रतिशत और जापान को 6 प्रतिशत की कमी लानी थी। चीन सहित सभी विकासशील देशों को शुरुआती दौर में इस कटौती से मुक्त रखा गया था।

इस सहमति के बाद की वार्ताओं में साम्राज्यवादी देशों ने कार्बन उत्सर्जन कम करने की जिम्मेदारी को टालने के लिए दो नये तरीके सुझाये

1. उत्सर्जन परमिट की अदला-बदली, यानी जिन विकासशील देशों के लिए उत्सर्जन में कटौती करना जरूरी नहीं, उनको पैसे देकर उनसे उत्सर्जन में कटौती करवाने

और उसके बदले अपने देश में हुए उत्सर्जन की उतनी ही मात्रा की क्षतिपूर्ति के लिए परमिट लेना। 2. ''कार्बनकुण्ड'' की अनुमति जिसमें धनी देशों को जंगल और खेती के बदले कार्बन उत्सर्जन की छूट देना। यूरोपीय यूनियन ने इन उपायों का विरोध करते हुए कहा कि यह प्रदूषण घटाने की अपनी जिम्मेदारी से बचने का एक बहाना है जबकि अमरीका, कनाडा, जापान, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने इसका समर्थन किया। सन् 2000 के हेग सम्मेलन में इस पर कोई सहमति नहीं बनी और वार्ता भंग हो गयी। 2001 में अमरीका ने क्वेटो प्रोटोकॉल को गलत बताते हुए एकतरफा फैसला करके खुद को इससे अलग कर लिया।

2001 में बॉन में दुबारा वार्ता शुरू हुई, लेकिन क्वेटो प्रोटोकॉल को पूरी तरह बेअसर बना दिया गया। कार्बन उत्सर्जन परमिट की खरीद-बिक्री और कार्बन कुण्ड की माँग स्वीकार कर ली गयी। इस तरह उन धनी देशों को उत्सर्जन बढ़ाने का परमिट मिल गया जिनका उत्सर्जन 1990 के बाद तेजी से बढ़ रहा था। और तो और, ''कानूनी बाध्यता,'' जो क्वेटो प्रोटोकॉल को प्रभावी बनाने वाला एक मात्र बिन्दु था, उसकी जगह ''राजनीतिक बाध्यता'' लाकर दरअसल जलवायु परिवर्तन सम्बन्धी वार्ताओं को निरर्थक वाद-विवाद के मंच में बदल दिया गया। उत्सर्जन बढ़ाने वाले देशों के लिए अब अधिकतम दण्ड यही हो सकता है कि अगले साल के लिए उनकी कटौती का कोटा बढ़ा दिया जायेगा।

अमरीका जो दुनिया भर में होने वाले कुल ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन के एक चौथाई हिस्से के लिए अकेले जिम्मेदार है, उसका इससे अलग रहना बॉन सम्मेलन की सबसे बड़ी असफलता थी। हालाँकि क्वेटो प्रोटोकॉल ग्लोबल वार्मिंग कम करने की दिशा में एक बहुत ही विनम्र शुरुआत थी। वैज्ञानिकों के अनुसार इसके पूरी तरह लागू होने पर भी अगले 100 सालों में सामान्यतः जितनी ग्लोबल वार्मिंग होती उसमें केवल 0.15 डिग्री सेल्सियस कमी आ पाती। जलवायु में समुचित नियंत्रण के लिए उत्सर्जन में 60 से 70 फीसदी की कटौती जरूरी है जिसके लिए इससे 30 गुना अधिक कटौती की जरूरत है। लेकिन साम्राज्यवादी देश क्वेटो प्रोटोकॉल के छोटे से लक्ष्य को भी मानने पर राजी नहीं हैं।

क्वेटो प्रोटोकॉल से किनाराकशी के बाद अमरीका ने ग्लोबल क्लाइमेट कोलीशन जैसी लॉबिंग संस्थाओं और अपने पिट्ठू वैज्ञानिकों के जरिये जलवायु वार्ताओं की जरूरत और आईपीसीसी की रिपोर्ट पर ही प्रश्न चिन्ह लगाना शुरू किया तथा यह भ्रम फैलाया कि जलवायु परिवर्तन महज एक हौवा है। इसके पीछे मोटर वाहन उद्योग और अन्य कम्पनियों का स्वार्थ है, क्योंकि उत्सर्जन में कटौती करने से उनके मुनाफे में कमी आना

तय है। अन्ततः अमरीकी राष्ट्रपति बुश ने आईपीसीसी की रिपोर्ट की जाँच-पड़ताल के लिए राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी (एनएएस) को जिम्मेदारी सौंपी। एनएएस ने अपनी रिपोर्ट में आईपीसीसी की रिपोर्ट को सही ठहराया और बताया कि ग्लोबल वार्मिंग मानव गति-विधियों का ही नतीजा है और धरती के अस्तित्व के लिए काफी खतरनाक है। सच्चाई सामने आने पर अमरीकी राष्ट्रपति ने नया पैंतरा बदला। उसने दो कारणों से क्वेटो प्रोटोकॉल को दोषपूर्ण बताया (1) अमरीकी अर्थव्यवस्था पर इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा क्योंकि इससे मजदूरों की छँटनी होगी और उपभोक्ताओं के लिए महँगाई बढ़ेगी। (2) चीन और भारत सहित विकासशील देशों को उत्सर्जन कटौती की जिम्मेदारी से मुक्त रखा गया है। इस तरह अमरीका ने साफ-साफ स्वीकार कर लिया कि क्वेटो प्रोटोकॉल को स्वीकार करना उसके बूते से बाहर है। अमरीका में केवल खनिज तेलों के इस्तेमाल से ही प्रति व्यक्ति 5.6 टन कार्बन डाइ ऑक्साइड का उत्सर्जन होता है। नाभिकीय ऊर्जा का उपयोग करने वाले फ्राँस में 1.8 टन और सभी साम्राज्यवादी देशों का औसत 3.8 टन है। दुनिया के अन्य सभी देश मिलकर औसतन 0.7 टन का उत्सर्जन करते हैं यानी विकसित देशों का औसत इससे 5 गुना अधिक और अमरीका का 8 गुना अधिक है। ऐसी स्थिति में विकसित और विकासशील देशों को एक तराजू पर तौलने की यह अमरीकी माँग दरअसल अपनी जिम्मेदारी से भागने का एक बहाना मात्र है। साम्राज्यवादी देशों के आर्थिक विकास की रफ्तार और पृथ्वी का विनाश दोनों सहगामी हैं। यह विश्व पूँजीवादी व्यवस्था से जुड़ा हुआ प्रश्न है। अपनी मर्जी से वे इस धारा को पलटने वाले नहीं हैं। इसीलिए पृथ्वी पर आसन्न खतरे की कीमत पर भी वे अपने मुनाफे की रफ्तार को बनाये रखने पर आमादा हैं।

बाली मानचित्र

जलवायु परिवर्तन पर अगली महत्त्वपूर्ण वार्ता दिसम्बर 2007 में बाली (इन्डोनेशिया) में हुई। उस समय आईपीसीसी की रिपोर्ट में जलवायु परिवर्तन की स्थिति के और अधिक खतरनाक रूप लेने को रेखांकित किया गया था। उसके अनुसार 2005 में वायुमण्डल में कार्बन डाइ ऑक्साइड और मिथेनगैस की सघनता 6500 वर्षों की प्राकृतिक सीमा को पार कर चुकी है। इसका कारण उद्योगों में पेट्रोल, डीजल और कोयले का अन्धाधुन्ध उपयोग है। अमरीका इसके लिए सबसे ज्यादा दोषी है। लेकिन बाली सम्मेलन में सबसे ज्यादा अड़ंगेबाजी भी उसी ने की।

अमरीका ने क्वेटो प्रोटोकॉल के लक्ष्य को गिरा कर उत्सर्जन कटौती की समय सीमा

वर्ष 2012 से आगे बढ़ाकर 2020 तक करने, प्रकृति के तापमान का औद्योगिक क्रान्ति के स्तर से 2 डिग्री सेल्सियल अधिक तापमान तक सीमित रखने और 1990 के स्तर से सिर्फ 25-40 प्रतिशत कटौती का लक्ष्य रखने का सुझाव दिया। अपने लगुए-भगुओं के जरिये उसने इसे स्वीकार भी करवा लिया। लेकिन इतने को भी अपने लिए बाध्यकारी नहीं माना। आईपीसीसी ने इस देरी और टाल-मटोल को पृथ्वी के अस्तित्व के लिए बेहद खतरनाक बताया लेकिन सम्मेलन पर इस चेतावनी का कोई असर नहीं हुआ।

बाली सम्मेलन में कार्बन उत्सर्जन में कटौती के एक नये बहाने कार्बन व्यापार को भी शामिल कर लिया गया। कार्बन व्यापार का अर्थ है एक टन कार्बन उत्सर्जन में कटौती से कार्बन क्रेडिट की एक इकाई प्राप्त होगी। जैसे तमिलनाडु में नारियल के छिलके से बिजली बनाकर कार्बन उत्सर्जन में सालाना 3418 टन कार्बन उत्सर्जन को घटाकर 28 टन पर ला दिया गया। इस तरह इससे 3390 इकाई कार्बन क्रेडिट कमाया गया। विकसित देश इस क्रेडिट के बदले कुछ पैसे देकर अपने लिए उतनी ही मात्रा में कार्बन उत्सर्जन का परमिट हासिल कर लेंगे। दरअसल यह विकसित देशों द्वारा अपने उत्सर्जन को जारी रखने का ही एक उपाय है।

बाली सम्मेलन से पहले अमरीका के येल विश्वविद्यालय ने एक सर्वे करवाया था, जिसमें 68 प्रतिशत अमरीकी नागरिकों ने इस राय से सहमति जतायी थी कि अमरीका वर्ष 2050 तक कार्बन उत्सर्जन में 90 प्रतिशत तक की कटौती करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय सन्धि पर हस्ताक्षर करे। लेकिन अमरीकी सरकार अपने देश के बहुमत का सम्मान नहीं करती। उसकी नकेल तो मोटरगाड़ी, बिजली, कोयला कम्पनियों के हाथ में है जिनके लिए कार्बन उत्सर्जन में कटौती का सीधा अर्थ है मुनाफे में कटौती। इन मानवद्रोही कम्पनियों को पृथ्वी बचाने से अधिक अपना मुनाफा बढ़ाने की चिन्ता है। यही कारण है कि बाली सम्मेलन में भी क्वेटो प्रोटोकॉल को बाध्यकारी समझौते की मान्यता नहीं मिली।

कोपेनहेगन सम्मेलन (2009)

कोपेनहेगन में भी एक बार फिर वही नाटक दुहराया गया जो जलवायु परिवर्तन पर होने वाली अन्तरराष्ट्रीय वार्ताओं में साम्राज्यवादी देशों द्वारा बार-बार खेला जाता है। फर्क इतना ही था कि इस बार यह सब कहीं ज्यादा षड्यंत्रकारी तरीके से और कहीं ज्यादा धूर्तता के साथ किया गया। इस सम्बन्ध में फिदेल कास्त्रो की टिप्पणी उल्लेखनीय है

''17 दिसम्बर की शाम से लेकर अगले दिन 18 की सुबह तक ओबामा की ओर

से प्रस्ताव लाने के लिए डेनमार्क के प्रधानमंत्री, अमरीका के कुछ वरिष्ठ प्रतिनिधि, यूरोपीय आयोग के अध्यक्ष और 27 देशों के नेतागण अलग से बैठक करते रहे। यह एक ऐसा प्रस्ताव था जिसमें दुनिया के अन्य देशों के प्रतिनिधिमण्डलों की कोई भागीदारी नहीं थी। यह एकदम आलोकतांत्रिक, अवैध और गुपचुप तरीके से की गयी कार्रवाई थी। इसने दुनिया भर के सामाजिक आन्दोलनों, वैज्ञानिक और सामाजिक संस्थाओं के प्रतिनिधियों तथा सम्मेलन में शामिल दूसरे हजारों लोगों की उपेक्षा की थी।'' फिदेल के अनुसार ''डेनिस राजधानी में यदि कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही तो वह थी मीडिया कवरेज जिसने वहाँ पैदा की गयी अराजकता तथा काफी उम्मीद लेकर पहुँचे राष्ट्र प्रमुखों, मंत्रियों और सामाजिक आन्दोलनों व संस्थाओं के प्रतिनिधियों के साथ किये गये अपमानजनक व्यवहार को पूरी दुनिया के सामने ला दिया। शान्तिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे लोगों का पुलिस द्वारा बर्बर दमन उन नाजी सेनाओं के व्यवहार की याद दिला गया जिसने अप्रैल 1940 को पड़ोसी डेनमार्क पर कब्जा कर लिया था।''

अमरीका द्वारा प्रस्तुत दस्तावेज को जी-77 ने यह कहते हुए अमान्य कर दिया कि यह सम्मेलन के लिए स्वीकार्य नहीं है और इसलिए इसे अपनाया नहीं जा सकता। सम्मेलन में बोलीविया, वेनेजुएला, क्यूबा और सूडान ने विकासशील देशों का मजबूती से पक्ष लिया तथा साम्राज्यवादी देशों और उनके पिछलग्गुओं की साजिशों का भंडाफोड़ किया। इसे सिर्फ 25 देशों का पक्ष रखने वाले प्रस्ताव के रूप में लिया गया। इस दस्तावेज में विकसित देशों, खास तौर पर अमरीका के लिए कार्बन उत्सर्जन में कटौती करने की कोई बाध्यता नहीं थी। इसमें अधिक उत्सर्जन करने वाले धनी देशों ने विकासशील देशों को उत्सर्जन में कटौती करने के बदले अनुदान देने या उन्हें प्रदूषण घटाने वाली तकनोलॉजी का हस्तांतरण करने की कोई गारण्टी नहीं की थी। दुनिया के अलग-अलग देशों में भारी विषमता को ध्यान में रखते हुए जलवायु परिवर्तन की वार्ताओं में शुरू से ही यह स्थापित था कि उत्सर्जन घटाने के लक्ष्य को इस आधार पर तय किया जायेगा कि किसी देश में उपभोग का स्तर कैसा है और वहाँ ऊर्जा की खपत कितनी है। दस्तावेज में इस अंतर को नजरंदाज करने का प्रयास किया गया। क्योटो प्रोटोकॉल का सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा जलवायु सन्धि के प्रावधानों को कानूनी तौर पर बाध्यकारी बनाया जाना था जिसे ताक पर रखते हुए इस दस्तावेज ने जलवायु वार्ताओं को निरर्थक वाद-विवाद तक सीमित कर दिया। वार्ताओं की शुरूआत से ही अमरीका की यही मंशा थी।

कोपेनहेगन सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधियों की भूमिका बेहद लज्जाजनक रही। अपनी अमरीका परस्ती और साम्राज्यवाद समर्थक रवैये का परिचय देते हुए उन्होंने

अमरीका के उस दस्तावेज को स्वीकार किया जो भारत सहित तीसरी दुनिया के देशों के खिलाफ था। कभी गुटनिरपेक्ष आन्दोलनों में नेतृत्वकारी भूमिका निभानेवाला भारत आज अपनी समर्पणवादी विदेश नीति के कारण जी-77 के बजाय उस जी-7 के पाले में खड़ा नजर आता है जो अपने साम्राज्यवादी स्वार्थों की पूर्ति के लिए विकासशील देशों और पूरी धरती के लिए तबाही का रास्ता तैयार कर रहा है। दरअसल भारत सरकार के रुख का अन्दाजा उसी समय से लगने लगा था जब पर्यावरण मंत्री जयराम रमेश ने हिमालय के ग्लेशियरों के पिघलने और कार्बन उत्सर्जन में कटौती के बारे में भ्रामक बयानबाजी की थी। इस तरह भारत, जो क्वेटो प्रोटोकॉल का प्रबल समर्थक था, 'महाशक्ति' बनने के मुगालते में, साम्राज्यवाद का दामन थामते हुए क्वेटो प्रोटोकॉल को तिलांजलि देने वालों की कतार में खड़ा हो गया। इसे तीसरी दुनिया और भारतीय जनता के साथ सरासर धोखा कहा जाय तो गलत नहीं।

कानकुन सम्मेलन

कोपेनहेगन जलवायु सम्मेलन का जो नतीजा सामने आया था उसे देखते हुए शायद ही किसी को यह मुगालता होगा कि कानकून सम्मेलन में कोई रास्ता निकलेगा। इस सम्मेलन में तय की गयी कटौती लागू भी हो जाये तो धरती का तापमान 3 से 4 डिग्री सेल्सियस तक बढ़ जायेगा। जबकि--वैज्ञानिकों के मुताबिक इसकी अधिकतम सीमा 2 डिग्री सेल्सियस है।

साम्राज्यवादी देशों ने 2020 तक कार्बन उत्सर्जन में अपनी मर्जी से 13 से 16 प्रतिशत तक कटौती करने का वचन दिया है जबकि तत्काल 40 प्रतिशत कटौती करना बेहद जरूरी है। अमरीका, जो पृथ्वी को तबाह करने में अकेले में एक चौथाई हिस्से के लिए जिम्मेदार है, उसने इस अवधि में केवल 4 प्रतिशत की कटौती का वचन दिया है। जापान ने साफ-साफ कह दिया कि वह इस अवधि में किसी भी कटौती के लिए राजी नहीं है।

धनी देशों का यह गैरजिम्मेदाराना रवैया कोई नया नहीं है। क्वेटो प्रोटोकॉल की पहली अवधि (2012) समाप्त होने को है। लेकिन 2008 से 2010 के बीच इन देशों के लिए 5.2 प्रतिशत कटौती का जो लक्ष्य रखा गया था, उसमें कमी लाने के बजाय 41 में से 17 देशों ने उत्सर्जन बढ़ाया है और किसी-किसी मामले में तो 40 से 100 प्रतिशत तक अधिक उत्सर्जन किया है। जिन देशों ने लक्ष्य पूरा किया है, वहाँ भी उत्सर्जन में वास्तविक कटौती नहीं की गयी, बल्कि दूसरे देशों से कार्बन व्यापार करके अपने देश

में किये गये उत्सर्जन का हिसाब बराबर किया गया।

इस सम्मेलन ने पहली बार भारत सहित विकासशील देशों के लिए यह जरूरी बना दिया कि वे अपने देश में होने वाले प्रदूषण की रिपोर्ट हर दो साल पर ''अन्तरराष्ट्रीय सलाह एवं विश्लेषण'' प्रक्रिया के आगे पेश करे। पहले उन्हें केवल उन गतिविधियों के मामले में ऐसी रिपोर्टें पेश करना जरूरी था, जो धनी देशों की आर्थिक सहायता से चलायी जा रही हों। जाहिर है कि यह कदम धनी और गरीब देशों को एक ही तराजू पर तोलने वाला है। जाहिर है कि अमरीका जैसा चाहता था वैसा ही हुआ। उसने विकासशील देशों के अपने पिछलग्गुओं को साथ लेकर अपना मनोरथ पूरा कर लिया। अमरीका ने ब्राजील दक्षिण-अफ्रीका, भारत और चीन (ब्रिक) के साथ साँठ-गाँठ करके यह सहमति बनायी जिस पर बाद में 20 अन्य देशों ने भी हस्ताक्षर कर दिये। जी-77 की इस पर सहमति नहीं बनी और इसीलिए इसे सम्मेलन में स्वीकृत नहीं किया गया। साम्राज्यवादी देश यही चाहते थे सहमति हो तो उनकी जीत, असहमति हो तो तीसरी दुनिया की हार। विकिलीक्स के रहस्योद्घाटनों से यह बात सामने आयी है कि धनी देशों ने कई गरीब देशों को धमकाकर और सहायता रोकने का डर दिखाकर उन्हें कोपेनहेगन समझौते पर सहमति जताने के लिए बाध्य किया था।

इस तरह कोपेनहेगन में अमरीकी राष्ट्रपति ने जो मुद्दे उछाले थे, कानकुन में उन्हें और भी दृढ़ता से रखा गया--

- कोपेनहेगन में अन्तरराष्ट्रीय सलाह और विश्लेषण की अस्पष्ट रूप से चर्चा की गयी थी, तब भारत ने उसका विरोध किया था, लेकिन कानकुन में वह इस मुद्दे पर राजी हो गया।

- हरित जलवायु कोष की बात को फिर से ठुकराया गया। इसके लिए 100 अरब डॉलर का कोष बनाने का सुझाव दिया गया, लेकिन पैसा कहाँ से आयेगा और किनके बीच बँटेगा। यह स्पष्ट नहीं किया गया।

- क्वेटो सम्मेलन में परिशिष्ट-1 (विकसित देश) और परिशिष्ट-2 (विकासशील देश) में अंतर करते हुए उनके लिए उत्सर्जन कटौती का अलग-अलग मानदण्ड और लक्ष्य तय किया गया था। इस फर्क को पहले-पहल कोपेनहेगन में ही धुँधलाने का प्रयास किया गया और कानकुन सम्मेलन में इस अन्तर को मिटाने की दिशा में आगे कदम बढ़ाया गया।

- वार्ताओं के शुरुआती चरण से ही यह स्थापित था कि पर्यावरण विनाश के लिए विकसित देश सर्वाधित जिम्मेदार हैं। इसलिए उसे सुधारने में उनकी जिम्मेदारी अधिक

होगी। विकासशील देश गरीबी और पिछड़ी तकनीक के चलते यदि प्रदूषण फैलाते हैं, तो विकसित देशों की यह जिम्मेदारी बनती है कि वे गरीबी उन्मूलन और तकनोलॉजी का विकास करने में गरीब देशों की सहायता करें। अमरीका शुरू से ही इस सच्चाई से आँख चुराते हुए सब के लिए एक मानदण्ड की वकालत करता आ रहा था। कानकुन में वह इस बात को थोपने में काफी हद तक सफल रहा।

• शुरूआती वार्ताओं में पृथ्वी का तापमान 1.5 डिग्री सेल्सियस ग्रेड से अधिक न बढ़ने देने पर लगभग 100 देश राजी थे। कोपेनहेगन में इसे बढ़ाकर 2 डिग्री सेल्सियस करने का प्रस्ताव रखा गया। कानकुन तक आते-आते कई देश इस पर सहमत होते गये।

इस तरह इस सम्मेलन में क्वेटो प्रोटोकॉल के जरिये धनी देशों ने जो आधी-अधूरी प्रतिबद्धता दुहरायी थी, उससे भी उन्होंने पल्ला झाड़ लिया जो साम-दाम-दण्ड-भेद की अमरीकी नीति का नतीजा है। अब साम्राज्यवादी देशों को उस क्वेटो प्रोटोकॉल से छुटकारा मिल गया जिससे हर देश के लिए निश्चित मात्रा और निश्चित समय में उत्सर्जन कटौती करने की कानूनी बाध्यता तय की गयीं थीं। मानवद्रोही, आत्मघाती और क्षणजीवी धनी देश कम कार्बन तकनोलॉजी का विकास करने, बेहिसाब उपभोग पर लगाम लगाने और अपनी विलासितापूर्ण जीवनशैली को बदलने के लिए तैयार नहीं हैं और उन्हें किसी की परवाह भी नहीं है। भले ही धरती तबाह हो जाये जल कर खाक हो जाये।

यदि भूमण्डल का ताप 2 डिग्री सेल्सियस से ज्यादा बढ़ जाता है, जो स्थिती कोपनहेगन समझौते के कारण पैदा हो सकती है, तो 50 फीसदी सम्भावना यही है कि हमारी धरती माँ को इससे जो नुकसान होगा उसकी भरपाई पूर्णतया असम्भव होगी। 20 से 30 फीसदी प्रजातियों के विलुप्त होने का खतरा पैदा हो जायेगा। बड़े पैमाने पर जंगल प्रभावित होंगे, बाढ़ और सूखा इस ग्रह के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित करेंगे, रेगिस्तानों का फैलाव होगा तथा ध्रुवों के हिमशिखर और हिमालय व एंडीज के ग्लेशियर और भी बुरी तरह पिघलने लगेंगे। बहुत से द्वीप-देश गायब हो जायेंगे और अफ्रीका को 3 डिग्री सेल्सियस से भी अधिक तापमान वृद्धि का शिकार होना पड़ेगा। इस तरह दुनिया का अनाज उत्पादन घट जायेगा और दुनिया में भुखमरी के शिकार लोगों की संख्या जो पहले ही 1.02 अरब का आँकड़ा पार कर चुकी है, अचानक तेजी से बढ़ जायेगी।

कोचाबाम्बा मसविदा दस्तावेज से

जलवायु परिवर्तन पर वार्ताएँ क्यों असफल हो रही हैं?

साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में बाजार को सर्वव्यापी, निर्विकल्प और सर्वोपरी शक्ति के रूप में स्थापित कर दिया गया है। दौलत और सत्ता आज विवेक पर हावी है। बाजारवादी ताकतें धरती के दूरगामी भविष्य की चिन्ता करने के बजाय अपने तात्कालिक मुनाफे के पीछे पागल हैं। इसीलिए जलवायु संकट के समाधान भी वे बाजार के तर्कों और शर्तों पर ही प्रस्तुत करते हैं। इन बाजारवादी समाधानों में कार्बन व्यापार उत्सर्जन का प्रतिसंतुलन और अनाज से जैव ईंधन (बायो-डीजल) का उत्पादन प्रमुख है। इनका मकसद पूँजी संचय और बेतहाशा उपभोग को लगातार जारी रखना है, जो पर्यावरण विनाश के लिए जिम्मेदार है। प्राकृतिक और मानव श्रम की लूट पर फलने-फूलने वाली बाजार की समृद्धि और पर्यावरण की रक्षा दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। इन दोनों को एक साथ साधना सम्भव नहीं है। बाजारवादी इस तथ्य को स्वीकार करने के बजाय कि अन्धाधुन्ध पूँजीवादी उत्पादन और उपभोग के कारण ही पर्यावरण का विनाश हुआ है, उल्टे उस पर पर्दा डालते हैं। नतीजा यह कि आज दुनिया के तापमान में आईपीसीसी के अनुमानों से कहीं ज्यादा तेजी से वृद्धि हो रही है। यह स्थिति तब तक बनी रहेगी, जब तक इस प्राकृतिक महाविपदा के असली कारणों को दूर नहीं किया जायेगा और विनाश के कारकों को ही समाधान के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहेगा।

पश्चिमी साम्राज्यवादी देश वातावरण में 80 प्रतिशत कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा बढ़ाने के लिए जिम्मेदार हैं। ब्रिटेन का एक नागरिक 11 दिन में जितना कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का उत्सर्जन करता है उतना बाग्लादेश का एक नागरिक एक साल में भी नहीं करता। 14 करोड़ की आबादी वाले 6 अफ्रीकी देश जितना कार्बन डाइ ऑक्साइड उत्पन्न करते हैं, उतना ब्रिटेन के एक ही पावर प्लान्ट से उत्सर्जित होता है। अमरीका के निजी वाहनों के धुएँ और विलासिता के सामानों से निकलने वाली जहरीली गैसें पर्यावरण विनाश के बहुत बड़े कारण हैं। लेकिन फिर भी अमरीका और अन्य धनी देश इस जिद पर अड़े हैं कि जब तक तीसरी दुनिया के देश अपना उत्सर्जन नहीं घटाते, तब तक वे भी नहीं

घटायेंगे। सीधी बात यह कि जो लोग पृथ्वी की तबाही के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार हैं वे ही इसके समाधान की जिम्मेदारी से भाग रहे हैं। यही कारण है कि जलवायु वार्ताएँ एक-एक कर असफल होती जा रही हैं।

नस-नस में जहर घोल दिया

अमरीका के 20 डॉक्टरों और नर्सों का सर्वे करने पर उनके शरीर में कम से कम 24 और अधिकतम 39 जहरीले रसायन पाये गये। इनका स्रोत हवा-पानी में घुला जहर, प्लास्टिक की बोतल, रसोई के उपकरण, कम्प्यूटर, फर्नीचर, मेडिकल उपकरण, शृंगार प्रसाधन और पैकिंग के साधन हैं।

हम सभी इन रसायनों से प्रभावित होते रहते हैं और हम सबके शरीर में नाना प्रकार के जहर घुले हुए हैं।

अमरीका और दुनिया भर में रोजमर्रे की जिन्दगी में 84,000 रसायनों का इस्तेमाल होता है जिनमें से लगभग 20,000 की संरचना और उनके हानिकारक प्रभावों को ''व्यापारिक-गोपनीयता'' के नाम पर हमसे छुपाया जाता है।

पूँजीवाद, मोटरकार उद्योग और प्रदूषण

सर्वविदित है कि पूँजीवाद का एक मात्र मकसद मुनाफाखोरी है और पूँजीवाद में जितना ज्यादा मुनाफा बढ़ेगा, जितना विकास दर बढ़ेगी उतना ही अधिक प्राकृतिक संसाधनों का विनाश होगा और प्रदूषण बढ़ेगा। यानी पूँजीवाद का विकास और पर्यावरण का विनाश दोनों साथ-साथ चलते हैं। मोटर कार उद्योग के उदाहरण से इस बात को अच्छी तरह समझा जा सकता है। 1930 से 1950 के दशक के बीच अमरीकी ऑटो उद्योग ने वहाँ की सरकार, स्टैंडर्ड ऑयल कम्पनी और फायरस्टोन टायर के साथ मिलकर वहाँ परिवहन के पुराने ढाँचे को तहस-नहस कर दिया। रेल और सार्वजनिक परिवहन के मद में सरकार ने बजट बहुत ही कम कर दिया और राजमार्गों के निर्माण पर भारी पैसा खर्च किया। दूसरी ओर ऑटो कम्पनियों ने बिजली से चलने वाली स्ट्रीट कार की कम्पनी को खरीद लिया और उनको बन्द करके उनकी जगह बसें चलवानी शुरू की। 1936 से 1955 के बीच वहाँ स्ट्रीट कारों की संख्या 40,000 से घटकर 5,000 रह गयी। अमरीका में इस परिघटना को ''जनरल मोटर का स्ट्रीट कार षड्यंत्र'' या अमरीकी स्ट्रीट कार घोटाला के नाम से जाना जाता है। जनरल मोटर कम्पनी ने अपने एकाधिकार का प्रयोग करते हुए बाद में सार्वजनिक बसों को धीरे-धीरे अप्रभावी बना दिया और निजी वाहनों को प्रोत्साहित किया। इसी का नतीजा है कि आज अमरीका में माल ढुलाई और यात्रियों की आवाजाही का 90 प्रतिशत काम निजी वाहन करते हैं। यह जानते हुए भी कि निजी परिवहन पर्यावरण के लिए बेहद खतरनाक है, क्योंकि यह भारी मात्रा में कार्बन डाइ ऑक्साइड छोड़ता है और साथ ही काफी खर्चीला भी है, कुछ एक कम्पनियों के भारी मुनाफे को बनाये रखने के लिए इसे बढ़ावा दिया जा रहा है। 1991 से वैश्वीकरण उदारीकरण के नाम पर हमारे देश में भी इसी अमरीकी मॉडल को अपनाया जा रहा है। सस्ते और कम प्रदूषण फैलाने वाले रेलवे की जगह सड़क परिवहन और निजी यातायात को बढ़ावा देना इसी का नतीजा है जो गरीब देश की गरीब जनता के लिए असहनीय बोझ है।

जनरल मोटर, फोर्ड और क्रिस्लर जैसी दैत्याकार मोटर-वाहन कम्पनियाँ अपने मुनाफे की हवस में प्रदूषण की परवाह किये बिना अपनी बिक्री बढ़ाती जा रही है। आज अमरीका

में बिकनेवाली हर मोटरगाड़ी 1908 की टी फोर्ड मोटर से कहीं ज्यादा प्रदूषण फैलाती है, क्योंकि छोटे और कम प्रदूषण फैलाने वाले मॉडल से मुनाफा कम होता है। बड़ी गाड़ियाँ, ज्यादा मुनाफा और नतीजा अधिक प्रदूषण। लेकिन यही कम्पनियाँ कार्बनडाइ ऑक्साइड उत्सर्जन के अनिवार्य मानक को न अपनाने के लिए अपनी ताकत का इस्तेमाल करती हैं। उन्हीं के दबाव के चलते अमरीका जलवायु परिवर्तन की हकीकत से ही इन्कार करता है और इसके खतरे को कम करके आँकता है। यही कारण है कि अमरीका ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में स्वैच्छिक रूप से पर्याप्त कटौती करने या जलवायु परिवर्तन पर अन्तरराष्ट्रीय सहमति बनाने के लिए राजी नहीं है।

...मैं पूरे होशोहवास में एक ऐसे दस्तावेज पर दस्तखत नहीं कर सकता, क्योंकि इसके चलते लाखों लोग मारे जायेंगे। यह एक ऐसा समझौता है जो जलवायु संकट के अपराधियों की कीमत पर नहीं, बल्कि उनके शिकार लोगों की कीमत पर किया जा रहा है।

पाब्लो सोलोन

कानकुन सम्मेलन में बोलीविया के वार्ताकार का बयान

जलवायु संकट के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण

विनाशकारी जलवायु संकटों ने हर जागरूक नागरिक को चिन्ता में डाल दिया है। कुछ लोग इसे भाग्य का लेखा मानकर जड़ हो गये हैं, जबकि कुछ लोग विचार-विमर्श और संघर्ष करके स्थिति को बदलने में लगे हुए हैं। बदलाव के इच्छुक लोगों के नजरिये में भी विविधता है। इस समस्या के बारे में कई लोगों की समझ और उनके द्वारा प्रस्तुत समाधान एकदम सतही और दोषपूर्ण है। ऐसी भ्रामक स्थिति में सही नजरिये तक पहुँचने के लिए गलत विचारों की तह तक जाकर उसकी छानबीन करना और उनका पर्दाफाश करना जरूरी है, ताकि हम पर्यावरण संकट के बारे में एक सही समझ हासिल कर सकें और उसके आधार पर सही विकल्प की तालाश कर सकें।

गैर सरकारी संगठनों और पर्यावरणवादियों का रूख : विविध किस्म के गैर-सरकारी संगठन और उनसे जुड़े पर्यावरणवादी जलवायु संकट को टुकड़े-टुकड़े में देखते हैं। अलग-अलग इलाकों में सक्रिय ये लोग कभी भी जनता के सामने समग्र तश्वीर पेश नहीं करते। इसीलिए इनमें से कुछ लुप्त होते कछुए और गीदड़ों को बचाने में लगे हैं तो कुछ वृक्षारोपण अभियान में। सच्चाई यह है कि वर्तमान जलवायु संकट एक दो जीवों और इलाकों को ही प्रभावित नहीं कर रहा है, बल्कि पृथ्वी के समस्त जीव जन्तुओं, वनस्पतियों और खुद मनुष्य जाति के भविष्य को निगल लेने पर आमादा है। यही हाल रहा तो कुछ ही सालों बाद इंसान भी एक विलुप्त प्राणी हो जायेगा। इस संकट को कम करके आंकना खुद मानवता के विनाश की सम्भावना से आँख चुराना है। इतना ही नहीं वे इस संकट के लिए प्रमुख रूप से जनसंख्या वृद्धि और इंसानों द्वारा फैलाये जा रहे निम्न स्तर के प्रदूषण को जिम्मेदार ठहराते हैं। इस तरह वे वास्तविक सच्चाई पर पर्दा डालते हैं और असली गुनाहगार से ध्यान हटाते हैं। सच तो यह है कि अमरीका की 100 कम्पनियाँ भारत जैसे गरीब देशों के करोड़ों लोगों से ज्यादा प्रदूषण फैलाती हैं। दूसरी ओर क्या जलवायु संकट के लिये आम इन्सान जिम्मेदार हैं? मानव का इतिहास दस हजार सालों से ज्यादा पुराना है जबकि अधिक कार्बन उत्सर्जन द्वारा पैदा की गयी ग्लोबल वार्मिंग और

जलवायु संकट का इतिहास महज 200 साल पुराना है। इस बात को पर्यावरणवादी क्यों छुपाते हैं? 200 साल पहले आखिर ऐसा क्या हुआ था, जिसने पूरे जीव जगत के लिए इतने बड़े खतरे की नींव रख दी?

औद्योगिक क्रान्ति के बाद पूँजीवाद के लिए नये युग की शुरुआत हुई थी। उसके साथ ही धरती के विनाश का एक नया अध्याय भी शुरू हुआ था। आज उद्योगपति अपनी जहर उगलती फैक्ट्रियों को न केवल बेधड़क चालू रखते हैं, बल्कि उनसे निकलने वाली विषैली गैसों को साफ करने के लिए फिल्टर तक नहीं लगाते। जलवायु संकट के लिये आम इन्सान जिम्मेदार नहीं, क्योंकि मनुष्य के जीवन चक्र से प्रकृति का चक्र असंतुलित नहीं होता। लेकिन जब मुट्ठीभर पूँजीपति प्राकृतिक संसाधनों का असीमित दोहन करते हैं और उसकी भरपाई करने के बजाय वायुमण्डल में लगातार जहरीली गैस और कचरा झोंकते हैं, तो पर्यावरण बुरी तरह असंतुलित हो जाता है। इसीलिए आज पूँजीवाद जनित उपभोक्तावाद भयानक प्रदूषण का स्रोत बन गया है।

गरीबों द्वारा कोयले, लकड़ी और उपले से खाना पकाने को पर्यावरण संकट के कारण के रूप में गिनवाना भी कुटिलतापूर्ण चाल है। क्या ये साधन उद्योग और निजी सड़क परिवहन से भी अधिक कार्बन उत्सर्जन करते हैं? नहीं। बल्कि उद्योग, यातायात, विद्युत उत्पादन और इनसे बने उत्पाद कार और एसी से सर्वाधिक मात्रा में कार्बन उत्सर्जन होता है जो उच्च वर्ग की विलासिता के साधन के रूप में अधिक उपयोग किये जाते हैं। क्या अमीरों की अय्यासी और गरीबों की मजबूरी को एक तराजू में रखकर तौला जा सकता है? इस भीषण गरीबी और साधनहीनता के लिए भी क्या पूँजीवादी व्यवस्था ही जिम्मेदार नहीं है?

समस्या और उसके कारणों की गलत समझदारी के कारण पर्यावरणविदों द्वारा सुझाये गये उपाय, जैसे वैकल्पिक उर्जा, वृक्षारोपण, जैविक खाद, पुरानी चीजों की रिसायकिलिंग आदि इस विराट समस्या के आगे कहीं नहीं ठहरते। ऐसा क्यों है कि हजारों गैर सरकारी संगठनों और पर्यावरणविदों के अथक प्रयासों के बावजूद जलवायु संकट की समस्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही है। सच तो यह है कि इनमें से अधिकांश सदाशयी स्वयं-सेवी उन्हीं साम्राज्यवादी सरकारों और बड़ी कम्पनियों से आर्थिक अनुदान ग्रहण करते हैं, जो पर्यावरण संकट के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार हैं। अमूमन इन कम्पनियों के मालिक इन खुदाई खिदमतगारों को खैरात और तमगे इसीलिए देते हैं कि वे उनके कुकर्मों पर पर्दा डालें और जनता के बीच विभ्रम फैलाएँ। हो सकता है कि इनमें से कुछ एक इतने भोले हों कि वे इस बात को समझ न पाते हों, लेकिन उनका यह भोलापन पृथ्वी और

मानवता के लिए तो हानिकारक ही है।

सरकार का रुख : प्रदूषण के लिए दोषी कम्पनियों के खिलाफ सख्त कार्रवाई करने और इस समस्या का समाधान करने के बजाय सरकारें निर्जीव, नख-दन्तविहीन पर्यावरण कानून बनाने, पर्यावरण विनाश की कीमत पर देशी-विदेशी कम्पनियों को प्रकृति के दोहन की खुली छूट देने और अंतरराष्ट्रीय वार्ताओं में धनी देशों के साथ में खड़ा होने का काम करती हैं। पर्यावरण पर बनी कई परियोजनाएँ सालों से धूल चाट रही हैं। इनमें लगी धनराशि सरकारी अधिकारियों और नेताओं की जेब के हवाले हो जाती है। भ्रष्टाचार में डूबी पूँजीवादी सरकारों से भला उम्मीद भी क्या की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय की फटकार या जनता की गुहार सुनकर समस्या को टालने के लिये जाँच कमेटी बैठा देना सरकार का दैनन्दिन का काम है। सरकार को अपनी जनता के स्वास्थ्य और पर्यावरण विनाश की तनिक भी चिन्ता होती तो वह पर्यावरण के मामले में कुख्यात पॉस्को और वेदान्ता जैसी कम्पनियों को भारत में अपनी इकाई लगाने की अनुमति नहीं देती। व्यापक जनांदोलनों के दबाव से वेदान्ता जैसी कम्पनियों के खिलाफ पर्यावरण मन्त्रालय को सख्त होना पड़ा, लेकिन देशभर में बड़े पैमाने पर प्राकृतिक सम्पदा की लूट आज भी जारी है।

साम्राज्यवादी देशों और उनके वैज्ञानिकों का रुख

विकसित देशों के पूँजीपरस्त वैज्ञानिक जलवायु संकट का समाधान तकनीकी प्रगति के जरिये करने का दावा करते हैं। इन तकनीकों में प्रमुख हैं पैट्रोलियम पदार्थों के विकल्प के रूप में नाभिकीय ऊर्जा का इस्तेमाल तथा सल्फर डाइ ऑक्साइड और लोहे के चूर्ण का उपयोग करके ग्लोबल वार्मिंग के प्रभाव को कम करना। अमरीका की थ्री माइल्स आइलेण्ड दुर्घटना, रूस के चेर्नोबिल परमाणु रियेक्टर त्रासदी और हाल में जापान के नाभिकीय रियेक्टर में रिसाव की वीभत्सता को देखते हुए नाभिकीय ऊर्जा का विकल्प बहुत ही घातक है। दूसरी ओर वायुमण्डल की ऊपरी सतह में सल्फर डाइ आक्साइड गैस छोड़ने से क्या यह सूर्य की ऊष्मा को परावर्तित कर ग्लोबल वार्मिंग को कम करेगी? लोहे के छोटे टुकड़े समुद्र में डाले जायें तो उससे वायुमण्डल की कार्बन डाइ ऑक्साइड को बड़े पैमाने पर अवशोषित कर लेंगे? इससे क्या कोई फर्क पड़ेगा? जागरूक वैज्ञानिकों का मानना है कि इन उपायों से और भी घातक परिणाम सामने आयेंगे। यदि सल्फर डाइ-ऑक्साइड प्रभावी भी होती है तो उसे वायुमण्डल में बार-बार झोंकना पड़ेगा जो खुद ही पर्यावरण संकट का कारण बनेगा, क्योंकि यह गैस पानी से मिलकर जानलेवा तेजाब बनाती है। इसके चलते तेजाब की बारिश होगी जिससे समुद्र की अम्लता कम होने के बजाय और अधिक बढ़

जायेगी।

ऐसे सुझाव प्रस्तुत करने का सीधा मतलब है समस्या को टालना और उससे मुँह चुराना। ऐसे तकनीकी समाधानों को पेश करने वाले वैज्ञानिक उन बड़ी साम्राज्यवादी कम्पनियों की स्वार्थ पूर्ति करते हैं जो क्वेटो प्रोटोकॉल के तहत कार्बन उत्सर्जन में कटौती की अपनी जिम्मेदारी से भाग खड़ी हुई हैं। अमरीका ने बाली मानचित्र, कोपेनहेगन और कानकुन सम्मेलन से किनाराकशी की और आज वह दुनियाभर में जलवायु संकट के बारे में तरह-तरह के भ्रम फैलाने में लगा है। वह ऐसे वैज्ञानिकों को प्रोत्साहित करता है जो या तो जलवायु संकट से इन्कार करते हैं या नीम-हकीमी नुस्खे सुझाते हैं। आज जलवायु संकट पर साम्राज्यवादियों का असली एजेण्डा यह है कि जब तक धरती रहेगी, वे इसे निचोड़ते और बर्बाद करते रहेंगे, ताकि उनके मुनाफे की हवस पूरी हो सके। ये क्षणजीवी अपनी आने वाली सभी नस्लों के बारे में नहीं सोचते।

टिकाऊ विकास का भ्रम

पिछले तीन दशकों से विश्व बैंक यह संदेश प्रसारित कर रहा है कि ''पहले विकास करो'' और फिर सफाई करो। इसी पूँजीवादी सोच के तहत अत्यधिक कार्बन उत्सर्जन युक्त तीव्र आर्थिक विकास को बढ़ावा दिया गया और दावा किया गया कि बड़ी कम्पनियाँ जब खूब दौलत कमा लेंगी तो उसी दौलत के दम पर अधिक कार्बन उत्सर्जन युक्त मौजूदा तकनीक को त्यागकर, कम उत्सर्जन वाली महँगी सौर, वायु और जल ऊर्जा तकनीकों को अपनायेंगी। लेकिन यह सभी दावे खोखले साबित हुए। विकसित देशों की कम्पनियों ने समृद्धि तो हासिल कर ली लेकिन वे उत्सर्जन कटौती के अपने वादे से मुकर गयी। पर्यावरण पर सभी अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन इसके गवाह हैं। क्वेटो प्रोटोकॉल के तहत 5 प्रतिशत उत्सर्जन कटौती का लक्ष्य रखा गया था लेकिन इनकी कारगुजारियों से अब तक कटौती के बजाय कार्बन उत्सर्जन में 11 प्रतिशत की बढ़ोतरी हो चुकी है।

पूँजीवाद के रहते पर्यावरण के मामले में टिकाऊ विकास सम्भव ही नहीं है। पिछले कुछ समय से 3 प्रतिशत की धीमी रफ्तार वाली, हरियाली युक्त, टिकाऊ आर्थिक विकास की बातें हो रही हैं। अगर विकास की इसी दर को अपना लिया जाय तो यह 23 साल में दुगनी और अगले 100 सालों में 16 गुनी हो जायेगी। इसकी अनिवार्य परिणति यह होगी कि इसी रफ्तार से प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जायेगा। कल्पना कीजिए 100 साल बाद आज से 16 गुना अधिक प्रदूषण और जलवायु संकट, वह भी टिकाऊ विकास के नाम पर। क्या यह टिकाऊ विकास है? तो क्या हम आर्थिक विकास के

विरोधी हैं? नहीं, लेकिन आर्थिक विकास के साथ-साथ हमें वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना भी करनी होगी जो जलवायु संकट के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार है। हमें ऐसे विकास को प्रोत्साहित करना होगा जो मुनाफा केन्द्रित न होकर पर्यावरण के लिए कम से कम नुकसानदेह और मानवता के हित में हो। हमें तकनीक और मानव श्रम में श्रम को प्राथमिकता देनी होगी, क्योंकि श्रम केन्द्रित विकास पर्यावरण के लिए कम नुकसानदेह और व्यापक आबादी के लिए लाभदायक होगा। मुनाफा केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था का लक्ष्य मुट्ठीभर लोगों की समृद्धि को अधिकाधिक बढ़ाना है। यहाँ मुनाफा ही मूसा है, मुनाफा ही पैगम्बर है, मुनाफा ही भगवान है।

मानवता के सामने दो ही विकल्प शेष हैं या तो मुनाफे के भगवान की पूजा करते हुए पृथ्वी के असंख्य प्राणियों और खुद मनुष्य को विनाश की ओर बढ़ते जाने दें या फिर इस मुनाफे के देवता को विसर्जित करें और जलवायु संकट के स्थायी समाधान के लिए प्रकृति और मानव के बीच सामंजस्यपूर्ण और समतामूलक समाज के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ें।

अब जब अन्ततः हम ग्लोबल वार्मिंग के प्रति गम्भीर हो चुके हैं, जबकि इसके दुष्प्रभाव वास्तव में हमारे ऊपर आघात कर रहे हैं और इसकी छति को कम से कम करने के लिए हम दुनिया भर में हाथ-पाँव मार रहे हैं, तब हमें उन नीच लोगों (ग्लोबल वार्मिंग पर संदेह करने और भ्रम फैलाने वालों) के ऊपर जलवायु विनाश के जुर्म में न्यूरेमबर्ग जैसा युद्ध अपराध का मुकदमा चलाना चाहिए।

डेविड रॉबर्ट्स, *पत्रकार*
ग्रिस्ट पत्रिका

पर्यावरण विनाश की जड़ें शोषणकारी व्यवस्था के इतिहास में

''जलवायु संकट के असली शिकार दबे-कुचले देश हैं, मानो इतिहास में कोई रेल हमें रौंदती हुई गुजर गई हो।''

ह्युगो शावेज, कोपेनहेगन सम्मेलन में भाषण

औद्योगिक क्रान्ति के साथ पर्यावरण विनाश का एक नया दौर शुरू हुआ, लेकिन यह समस्या उससे भी बहुत पहले रोमन साम्राज्य से ही चली आ रही है। जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई, प्राकृतिक संसाधनों का बेहिसाब दोहन, शिकार करके जंगली जानवरों का खात्मा, और प्राचीन उद्योग धन्धों द्वारा प्रदूषण फैलाना इसके उदाहरण हैं। रोमन साम्राज्य द्वारा उत्तरी अफ्रीका में जैतून का तेल निकालने के कारखानों के अवशेष अभी भी मिलते हैं। धरती के बेहिसाब दोहन के चलते जिन इलाकों में कभी जैतून के हरे-भरे जंगल थे वे आज रेगिस्तान में बदल गये हैं। रोमन साम्राज्य के जमाने में धातु गलाने के उद्योगों के आसपास राँगा, पारा और आरसेनिल के जहरीले अवशेष भी पाये गये हैं। उस दौर में प्लेग फैलाने में पर्यावरण प्रदूषण ही सहायक रहा था।

उस दौर में कई सभ्यताओं के विनाश के पीछे धरती को वीरान बनाया जाना, पर्यावरण को नष्ट किया जाना और पानी के स्रोतों का खत्म होना महत्त्वपूर्ण कारक रहे हैं। आज की साम्राज्यवादी व्यवस्था रोमन और माया सभ्यता से कहीं ज्यादा विराट और आगे बढ़ी हुई है। आज भी वही सब, उससे कहीं बड़े पैमाने पर हो रहा है। जहरीले और रेडियोधर्मी कचरे को जलाशयों में बहा देना, जंगल काट कर नारियल और ताड़ की खेती करना, हवा-पानी में जहर घोलना और हजारों जीव-जन्तुओं का लुप्त होते जाना। मौजूदा दौर में पर्यावरण विनाश करने वाली शक्तियाँ रोमन साम्राज्य की तरह किसी खास इलाके तक सीमित नहीं हैं। वैश्वीकरण के तहत वे पूरी दुनिया में अपनी विनाशकारी गतिविधियों को फैला रहीं हैं। साथ ही आज उनके पास दैत्याकार तकनोलॉजी है जो

अकेले उस दौर के हजारों गुलामों के बराबर काम करती हैं और इस तरह ये लोग लाखों गुना तेज रफ्तार से प्राकृतिक विनाश करने में सक्षम हैं। पुरानी सभ्यता में यह समझ नहीं थी कि पर्यावरण संकट प्रकृति और मानव जाति के लिए कितना घातक है, इसलिए वे लोग अन्धी खाई की ओर बढ़ते चले गये थे। लेकिन वर्तमान शासकों को अच्छी तरह पता है कि वे क्या कर रहे हैं, फिर भी वे उन्हीं सभ्यताओं के नक्शेकदम पर चल रहे हैं जिनका इतिहास में नामों निशान नहीं बचा।

उपनिवेशवादी दौर

असमान विकास और पर्यावरण विनाश की विश्वव्यापी समस्याओं के लिए यूरोप का उत्थान और पूरी दुनिया के देशों को गुलाम बनाने की उसकी मुहिम का भी बड़ा हाथ रहा है। तीसरी दुनिया के देशों के पारिस्थितिकी तंत्र का भारी विनाश करके उन्हें नरक में बदल दिया गया ताकि साम्राज्यवादी देशों के स्वर्ग की रौनक बनी रहे।

पुर्तगाल, स्पेन और ब्रिटेन ने पूरी दुनिया में अपने उपनिवेश बनाये और वहाँ जंगलों को काट कर प्लांटेशन शुरू किया। 400 वर्षों तक अपनी औद्योगिक जरूरतों और विलासिता के साधनों की पूर्ति के लिए उन्होंने स्थानीय लोगों के जीवन के लिए अनाज और अन्य जरूरी फसलों की जगह नील, गन्ना, तम्बाकू रबर, कॉफी आदि की खेती करवायी। प्रकृति और मानव श्रम के निर्मम शोषण ने आत्मनिर्भर और समृद्ध स्थानों को अकाल, भुखमरी और महामारी का पर्याय बना दिया। खनिज पदार्थों को धरती से निकाल-निकाल कर उसे खोखला कर दिया। जंगलों को काट-काट कर वीरान बना दिया।

साम्राज्यवादी दौर

राजनीतिक आजादी मिलने के बाद भी तीसरी दुनिया के देशों पर साम्राज्यवादियों का आर्थिक वर्चस्व कायम रहा। प्लांटेशन का काम उपनिवेशवादियों के नये वारिस, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने और बड़े पैमाने पर लागू किया। क्रान्ति से पहले तक क्यूबा की 60 प्रतिशत जमीन पर केवल गन्ने की खेती होती थी जबकि अपनी खाद्य आपूर्ति के लिए वहाँ 50 प्रतिशत अनाज विदेशों से मँगवाना पड़ता था। फायर स्टेन रबर कम्पनी का छोटे से देश लाइबेरिया में 1,27,000 एकड़ जमीन में रबर प्लॉटेशन है। युनाइटेड फ्रुट कम्पनी ने कई लातिन अमरीकी देशों में केवल केले की खेती शुरू करवायी। नेश्ले कम्पनी के कई देशों में कॉफी के प्लांटेशन हैं। खाद्य प्रसंस्करण और व्यापार पर भी इन्हीं कम्पनियों का एकाधिकार है।

एक फसली खेती के कारण इन कम्पनियों ने गरीब देशों की जैव विविधता को खत्म कर दिया और प्रकृति के संतुलन को तहस-नहस कर दिया। साथ ही उन्होंने इन देशों में असमान विकास और भयावह गरीबी को जन्म दिया क्योंकि 80 प्रतिशत खेती निर्यात के लिए होती थी जिसमें बमुश्किल 20 प्रतिशत लोगों को रोजगार मिल पाता था। शेष आबादी को रोजी-रोटी के लिए मुहताज और कंगाल बना दिया गया।

उपनिवेशवादी दौर में उत्पादन और श्रम विभाजन का जो वैश्विक ढाँचा तैयार हुआ था उससे तीसरी दुनिया के देश आज तक मुक्त नहीं हुए। कच्चा माल, प्राकृतिक संसाधन और खेती से पैदा होने वाले कच्चे माल का निर्यात और बदले में उन्हीं चीजों से तैयार मालों का महँगी कीमत पर आयात। आजादी के बाद इन देशों के शासक वर्ग साम्राज्यवादियों के सहयोगी की भूमिका में सामने आये और उनकी लूट में हाथ बँटाने लगे। फर्क इतना ही था कि जो काम पहले विदेशी ताकतें आपकी फौज के दम पर करती थीं, वह देशी हुक्मरानों ने कानून बनाकर व्यापार समझौतों और सन्धियों के माध्यम से करना शुरू किया। साथ ही, साम्राज्यवादी दौर में अमरीका और उसके संघातियों ने तीसरी दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों के लिए तख्तापलट और खून-खराबे का भी भरपूर सहारा लिया।

वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में तेल के लिए मारामारी

उपनिवेशवादी ताकतों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जे के लिए युद्ध और खून-खराबा सैकड़ों सालों से जारी है। साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में देशों पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कब्जों के पीछे प्राकृतिक संसाधनों और बाजार पर कब्जे के साथ-साथ खनिज तेल के स्रोतों को हथियाना एक प्रमुख कारण है। कांगो, नाइजीरिया, चाड और सुडान में लम्बे समय से साम्राज्यवादी अपने कठपुतली फौजी तानाशाहों के जरिये शासन करते रहे हैं। वहाँ की जनता को भुखमरी, बीमारी और मौत का शिकार बनाने के साथ-साथ वहाँ के पर्यावरण का विनाश इस साम्राज्यवादी लूट का ही नतीजा है। प्राकृतिक संसाधनों की लूट से कंगाल बन चुके अंगोला में गृहयुद्ध छिड़ने के कारण लाखों लोग मारे गये। वहाँ के शासकों ने अपनी कमाई को देश के विकास में लगाने के बजाय विदेशी बैंकों में जमा कर दिया।

वैश्वीकरण के इस दौर में साम्राज्यवादी अपना स्वार्थ साधने के लिए विश्व बैंक मुद्राकोष और विश्व व्यापार संगठन के जरिये काम करते हैं। प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध लेकिन कंगाल बना दिये गये इन इलाकों के शासक इन संस्थाओं के साथ साँठ-गाँठ करके

अपने देश की प्रकृति और मेहनतकशों को लूटते हैं और बदले में अपना हिस्सा ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि अफ्रीका का चौथा तेल उत्पादक देश होने के बावजूद कांगो आज 6.4 अरब डॉलर के कर्ज में है। कुछ दशक पहले कई देशों के शासकों ने तेल उत्पादन में अपने देश की सरकारी नियन्त्रण वाली कम्पनियों को लगाया और साम्राज्यवादी देशों की तेल कम्पनियों के वर्चस्व को चुनौती दी। इससे तेल मँहगा हुआ और साथ ही तेल के लिए युद्ध और षड्यन्त्रों का नया दौर शुरू हुआ। अमरीकी सरकार ने जब तेल पर कब्जा जमाने के लिए आतंकवाद विरोधी युद्ध के बहाने इराक और अफगानिस्तान पर बर्बर हमला किया तो अमरीकी फौजों के अलावा हमले की कार्रवाई में ब्लैकवाटर वर्ल्डवाइड जैसी निजी सैनिक कम्पनी ने भी उसमें ठेकेदार के रूप में बढ़-चढ़कर भाग लिया। अमरीका का यह खूनी खेल आज भी जारी है। इस मारकाट में अमरीका और नाटो सन्धि के उसके सहयोगी देशों के साथ-साथ बहुराष्ट्रीय निगमों और दैत्याकार तेल कम्पनियों की भी भूमिका रही है। मध्यपूर्व के अलावा तेल उत्पादक लातिन अमरीकी देशों पर भी साम्राज्यवादियों की काली छाया मंडराती रहती है। वेनेजुएला और बोलिविया ने जब साम्राज्यवाद के खिलाफ खड़े होने का प्रयास किया और अपने तेल उत्पादन में सरकारी हिस्सेदारी बढ़ाई तो अमरीका उन्हें ''लोकतंत्र'' के बहाने धमकाने और सत्ता से हटाने में जुट गया। कोलम्बिया के साम्राज्यवाद विरोधी छापामार जब विदेशी तेल पाइपों के लिए खतरा बनने लगे तो सीआईए और निजी सुरक्षा ठेकेदारों ने उनके खिलाफ मोर्चा खोल दिया। तेल कम्पनी सेल द्वारा क्रान्तिकारी कवि केन सारो विवा की हत्या के पीछे भी तेल की लूट ही थी।

तेल के सीमित स्रोतों का विकल्प तलाशने के बजाय साम्राज्यवादी देश किसी भी कीमत पर उसे हथियाने पर आमादा हैं। दुनिया में उर्जा का एक बड़ा साधन होने के साथ-साथ खनिज उर्जा ही ग्लोबल वार्मिंग का सबसे बड़ा कारण है। मानव निर्मित जलवायु परिवर्तन के जिस गम्भीर संकट का दुनिया आज सामना कर रही है, उसके पीछे साम्राज्यवादी लूट-खसोट और दुनिया का विषम विकास है, जिसके एक छोर पर मुट्ठीभर साम्राज्यवादी देशों की समृद्धि है तो दूसरी ओर तीसरी दुनिया की बदहाली।

क्या पूँजीवाद पर्यावरण संकट को हल कर सकता है?

किसी समस्या को जड़ से मिटाने के लिए उसकी जड़ तक पहुँचना जरूरी होता है। पर्यावरण संकट के बारे में भी यह जानना जरूरी है कि आखिर प्रकृति का विनाश क्यों हो रहा है? इस प्रश्न पर विचार करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि आज पर्यावरण से जुड़ी जितनी समस्यायें हैं ग्लोबल वार्मिंग, वायु और जल प्रदूषण, नयी-नयी बीमारियाँ, जीव जन्तुओं का लुप्त होना, उन सब के पीछे हमारी मौजूदा आर्थिक व्यवस्था की कार्यप्रणाली दोषी है। यह मनुष्य के जन्मजात लोभ-लालच या लापरवाही का नतीजा नहीं है। इसे किसी पूँजीपति या अधिकारी की निजी करतूत के रूप में न देखकर हमें उस सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था पर विचार करना होगा जो इस विनाश का मूल कारण है।

आज पूरी दुनिया में पूँजीवाद का डंका बज रहा है। यह सर्वव्यापी, सर्वग्राही है। हमारे मन-मस्तिष्क में पूँजीवादी मूल्य और पूँजीवादी विचार पूरी तरह रचे-बसे होते हैं, क्योंकि इन्हीं मूल्यों को ग्रहण करते हुए हम बड़े होते हैं। इसीलिए हम अवचेतन रूप से इन्हें सहज स्वीकार्य, स्वाभाविक और लाभदायक मानकर उसे अपने जीवन में उतारते हैं, जैसे निजी लोभ-लालच और स्वार्थ, अन्धी प्रतियोगिता, मजदूरों का निर्मम शोषण, गरीबी-अमीरी की चौड़ी होती खाई, प्रकृति का बेहिसाब दोहन इत्यादि। हमें कुछ भी गलत नहीं लगता, बल्कि हम समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए इन बातों का होना जरूरी मानते हैं। इसके प्रति हमारा दृष्टिकोण आलोचनात्मक नहीं होता। लेकिन पर्यावरण और पूँजीवाद के बीच शाश्वत टकराव के कुछ पहलुओं पर यदि हम आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि क्यों इस व्यवस्था के रहते पर्यावरण संकट का समाधान सम्भव नहीं है।

पूँजीवाद के लिए लगातार विस्तार करते रहना जरूरी है। पूँजीवाद की चालक शक्ति और इसके जिन्दा रहने की शर्त यह है कि वह लगातार पूँजी संचय करके मुनाफे और दौलत की ढेर लगाता जाए। इसके लिए जरूरी है कि दौलतमदों में मुनाफे की हवस और

लोगों में ज्यादा से ज्यादा उपभोग की लालसा जगायी जाए। अपने माल की बिक्री बढ़ाने के लिए पूँजीपति विज्ञापनों के माध्यम से लोगों में अधिक से अधिक उपभोग करने की भूख पैदा करते हैं। उनके लिए यह धरती और प्रकृति, मानव समाज और अन्य जीव-जन्तुओं के साथ मिलजुलकर जिन्दगी बसर करने की जगह नहीं, बल्कि अपने मुनाफे में दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ोतरी करने के लिए कच्चे माल और ऊर्जा का बेहिसाब दोहन करने का जरिया होती है।

पूँजी तभी तक पूँजी है, जब तक उसका निवेश करके उससे मुनाफा कमाया जा सके। पूँजीवाद का यह अन्तरनिहित तर्क है। इसलिये हर पूँजीपति के लिए यह जरूरी होता है कि वह अपना मुनाफा बढ़ाता रहे या मरने को तैयार रहे। आर्थिक विकास रूकने का अर्थ है पूरी अर्थव्यवस्था का संकटग्रस्त होना और उसका अंत होना। एक ही शर्त पर विकास दर को शून्य पर टिकाये रखा जा सकता है कि पूँजीपति अपनी लागत निकाल कर सारा अधिशेष (मुनाफा) या तो खुद पर खर्च कर दे या उसे मजदूरों में बाँट दे, यानी मुनाफे को इकट्ठा करके उसे पूंजी में बदलने का काम न करे और मजदूरों का शोषण न करे। इससे ''साधारण पुनरुत्पादन'' का चक्र चलता रहेगा, भले ही अर्थव्यवस्था में ठहराव हो। लेकिन पूँजीवादी सम्बन्धों के बने रहते ऐसा सम्भव नहीं है। पूँजीपति वर्ग जिसके रोम-रोम में मुनाफा समाया हुआ हो और जो अपनी सम्पत्ति को दिन-रात बढ़ाते रहने के लिए ही जीता हो, वह भला मजदूरों का शोषण करने के बजाय क्यों अपना मुनाफा उन्हें सौंप देगा या खुद पर पूरा का पूरा खर्च कर देगा? इसके विपरीत पूँजी का मालिक मरते दम तक अपने मुनाफे को बढ़ाते रहने के लिए हाथ-पाँव मारता रहेगा। वह नयी-नयी मशीनें लाकर मजदूरों की संख्या कम करेगा, ताकि कम मजदूरी देकर ज्यादा से ज्यादा अधिशेष प्राप्त किया जा सके। यही पूँजी का मूल मंत्र है मजदूरों का शोषण और मुनाफा। इसलिए, अर्थव्यवस्था को स्थिर रखते हुए मजदूरों का शोषण किये बिना भी निरन्तर उत्पादन जारी रखने के लिए पूँजीवादी सम्बन्धों को बदलना जरूरी होगा। इसके लिए एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना जरूरी होगा, जहाँ सामूहिक उत्पादन पर निजी मालिकाना और निजी मुनाफा न रहे तथा उत्पादन का उद्देश्य सबके लिए जरूरी साधन उपलब्ध कराना हो, कुछ लोगों के लिए निजी मुनाफे का जरिया नहीं। जब तक ऐसा नहीं होता, पूँजीवाद हर कीमत पर लगातार विस्तार करने और आर्थिक वृद्धि जारी रखने के लिए मानव श्रम और प्राकृतिक सम्पदा का निर्मम शोषण करता रहेगा। पूँजी विस्तार को कायम रखने के लिए देश से बाहर जाकर पूँजी निवेश करना तथा कच्चे माल के स्रोतों, सस्ते श्रम और बाजार पर कब्जा जमाना जरूरी है। आज साम्राज्यवादी देश यह काम बड़े पैमाने पर कर

रहे हैं। तेल और खनिज पदार्थों पर कब्जे के लिए मारामारी चल रही है। साथ ही साम्राज्यवादी देशों द्वारा विदेशों में जमीन हड़पकर वहाँ अपने देश की जरूरत के लिए अनाज, पशु चारा और बायोडीजल उगाने का काम जोरों पर है। साम्राज्यवादी देशों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने मुख्यतः अफ्रीका में लगभग 3 करोड़ हेक्टेयर जमीन पर कब्जा किया है जो यूरोप की कुल सिंचित जमीन का दो तिहाई है। इस जमीन पर खेती करने का मकसद जल्दी से जल्दी और ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना है। इसके लिए पानी का बेतहाशा दोहन और रसायनों का बेहिसाब इस्तेमाल करके जमीन को बंजर बनाना पड़े तो भी साम्राज्यवादियों पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा। इतिहास में उपनिवेशवादियों ने प्रकृति का जिस तरह विनाश किया था, अब वे उससे भी अधिक निर्मम तरीकों से तबाही लायेंगे क्योंकि तब मुख्यतः प्राकृतिक साधनों से खेती होती थी। अब वे रसायनों, खरपतवार नाशकों या कीट नाशकों और कृत्रिम बीजों का प्रयोग करके जमीन की उर्वरता, भूगर्भ जल और जैव विविधता को जल्दी से जल्दी खत्म करने में समर्थ हैं और वे यही कर रहे हैं।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ प्राकृतिक संसाधनों और सस्ते श्रम की तलाश में दुनिया का कोना-कोना छान मारती हैं। उनकी लूट-खसोट के कारण देशों के बीच और देश के भीतर अलग-अलग तबकों के बीच गरीबी-अमीरी की पहले से ही मौजूद खाई और चौड़ी होती जा रही है तथा प्रकृति की तबाही भी पहले से काफी तेजी से हो रही है। पूँजीवाद की प्रकृति है बेरोकटोक, असीमित विस्तार करते जाना, लेकिन प्राकृतिक संसाधनों की मात्रा तो सीमित है। इसीलिए पूँजीवादी उत्पादन और प्रकृति की सुरक्षा दोनों एक साथ चल ही नहीं सकते। उत्पादन प्रक्रिया में प्राकृतिक संसाधनों का इस्तेमाल होता है, जैसे तेल, गैस, कोयला (ईंधन), पानी (खेती और उद्योग दोनों के लिए), पेड़ (कागज और इमारती लकड़ी के लिए), खनिज पदार्थ (लौह अयस्क, ताम्बा बॉक्साइड) इत्यादि। प्रकृति में कुछ चीजों की मात्रा सीमित होने के बावजूद यदि उनका योजनाबद्ध तरीके से इस्तेमाल किया जाए तो उन्हें दुबारा पैदा किया जा सकता है। लेकिन तेल, गैस, कोयला, खनिज पदार्थ और कुछ इलाकों का भूजल ऐसे साधन हैं जिनका एक बार दोहन कर लिया जाए तो उन्हें दुबारा हासिल नहीं किया जा सकता। इसी तरह हवा, पानी और मिट्टी भी तभी तक जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों के काम लायक रहेंगी, जब तक उनका प्रदूषण एक सीमा से अधिक न हो।

पूँजीपति और उनके प्रबन्धक दूरदर्शी नहीं होते। उन्हें तो अधिक से अधिक 5 या 10 साल की फिक्र होती है। अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए उन्हें प्रतियोगिता, लागत

में कमी और मंदी से बचने तथा सट्टेबाजों को कम समय में अधिक लाभांश देने की चिन्ता खाती रहती है। वे यह नहीं सोचते कि जिन प्राकृतिक संसाधनों का वे इस्तेमाल करते हैं, उनकी मात्रा सीमित है। उल्टे जब उन्हें पता चलता है कि कोई स्रोत सूखने वाला है तो वे उसके दोहन की रफ्तार बढ़ा देते हैं और आपस में उसके लिए मारा-मारी शुरू कर देते हैं। इस तरह निजी पूँजीपति अपने मुनाफे और पूँजी संचय के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो भी फैसले लेते हैं, वे प्रकृति और मानव समाज के भविष्य के लिए हानिकारक होते हैं।

एक अध्ययन के अनुसार धरती के गर्भ में आज जितना खनिज तेल होने का अनुमान है और दुनियाभर में तेल की जितनी खपत आज हो रही है, उसके हिसाब से अगले 50 साल में खनिज तेल भंडार खत्म हो जायेगा। इसी तरह उर्वरक के उत्पादन में काम आने वाला फॉसफोरस भी इसी सदी में समाप्त हो जायेगा। लेकिन इस सीमा को देखते हुए साम्राज्यवादी ताकतें प्राथमिकता के आधार पर इनका किफायत से उपभोग करने या इन चीजों का विकल्प तलाशने के बजाय तेजी से इनकी छीनाझपटी करने में लगी हैं।

बड़े-बड़े मछली मारने वाले जहाजों के इस्तेमाल के कारण ढेर सारी समुद्री मछलियाँ गायब हो गयीं। इससे प्रकृति के जीवन चक्र को तो अपूरणीय क्षति हुई ही, उस पर निर्भर करोड़ों मछुआरें तबाह हो गये। निजी और स्वार्थपूर्ण पूँजी संचय के तर्क से चलने वाली व्यवस्था ने सदियों से चली आ रही प्राकृतिक अर्थव्यवस्था को रातों-रात तबाह कर दिया। विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा सार्वजनिक सम्पत्ति की निजी लूट के ऐसे ही विनाशकारी परिणाम कई अन्य क्षेत्रों में भी देखे जा सकते हैं।

जो व्यवस्था मुनाफे की हवस से संचालित हो, उसके द्वारा धरती की सीमाओं का अतिक्रमण किया जाना लाजिमी है। धरती पर मानव सभ्यता को शुरू हुए 12 हजार साल हो गये। लेकिन पिछले 500 सालों में ही पूँजीवाद धरती के कार्बन चक्र, नाइट्रोजन चक्र, मिट्टी, जंगल और समुद्र जैसी सभी बुनियादी सीमाओं को लाँघ चुका है। धरती का पूरा जलवायु-तंत्र पतन की ओर बढ़ रहा है। जैसे-जैसे दुनिया की अर्थव्यवस्था आगे बढ़ रही है, वैसे-वैसे धरती के चयापचय में मनुष्य द्वारा दखलन्दाजी से उत्पन्न दरार चौड़ी होती जा रही है और दिनों दिन यह ज्यादा खतरनाक होती जा रही है। इस बात को जानते हुए भी दुनिया भर के पूँजीवादी शासक अपने आर्थिक विकास और पूँजी संचय पर लगाम लगाने के बजाय उसे सरपट दौड़ाने की कोशिश कर रहे हैं। पर्यावरण संकट को हल करने के लिए उसी आर्थिक व्यवस्था पर भरोसा नहीं किया जा सकता, जो पिछले 500 वर्षों से

प्रकृति का विनाश करती आ रही है। पूँजीवाद और जलवायु के बीच स्थायी शत्रुता की सच्चाई को देखते हुए मौजूदा आर्थिक प्रणाली का विकल्प तलाशना जरूरी है। पूँजीपति अपनी मर्जी से इस विनाश के ताण्डव को नहीं रोकेंगे। शोषित पीड़ित जनता को बलपूर्वक उनके ऊपर अंकुश लगाना होगा, तभी धरती बच पायेगी।

यह सही है कि पूँजीवादी व्यवस्था का चरित्र सभी सामाजिक व्यवस्थाओं से इस मामले में विचित्र और न्यारा है कि यह व्यक्तिवाद, चरम स्वार्थ और गलाकाटू प्रतियोगिता को फलने-फूलने का मौका देती है। अपनी निर्बाध लूट को जारी रखने के लिए यहाँ अर्थव्यवस्था के अनुरूप राजनीति, न्याय प्रणाली, प्रचार माध्यम, शिक्षा, संस्कृति का पूरा ताम-झाम खड़ा किया जाता है। यहाँ पूँजीपतियों, राजनेताओं और कानून के बीच अपवित्र गठबन्धन घूसखोरी, भ्रष्टाचार, सिफारिश साफ दिखाई देती है। जलवायु संकट की वार्ताओं में ऐसा ही हुआ, जब धरती को नरक बनाने वाले पूँजीपतियों के पक्ष में पत्रकार वैज्ञानिक, कानूनविद, नौकरशाह और राजनीतिक प्रतिनिधि मजबूती से खड़े हुए। उनकी निगाह में पूँजीपति वर्ग का तात्कालिक हित ही देश का हित और पूरी जनता का हित है। यही कारण है कि पूँजीपति अपने मुनाफे की कीमत पर बहुसंख्य जनता को स्वास्थ्य, शिक्षा, भोजन, रोजगार, स्वच्छ वातावरण, साफ पानी और जीवन के लिए जरूरी साधनों से वंचित रखता है और पर्यावरण का विनाश करता है। लेकिन यह भी सच है कि पूँजीवादी व्यवस्था से पहले का इतिहास इससे कहीं लम्बी अवधि का, मानव सभ्यता की कुल अवधि का 99 प्रतिशत रहा है जब सामूहिकता और परस्पर हितों को बढ़ावा मिलता रहा है।

आज भी ऐसे लोग ही सबसे अधिक संख्या में हैं जिनकी भलाई इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था को समाप्त करने और एक न्यायपूर्ण, समतामूलक और प्रकृति की हिफाजत करने वाली वैकल्पिक व्यवस्था के निर्माण में है। जागरूक लोगों और संगठनों की यह ऐतिहासिक जिम्मेदारी है कि वे उन तक सही विचार पहुँचायें, उन्हें संगठित करें और बुनियादी बदलाव में उनका मार्गदर्शन करें।

अगर हम ऐसा नहीं करते तो संसार की सबसे अद्‌भुत रचना, मानव जाति गायब हो जायेगी... इस धरती को मानवता की समाधि न बनायें, इसमें हम समर्थ हैं। आइए इस धरती को स्वर्ग बनायें, जीवन का, शान्ति का स्वर्ग, सम्पूर्ण मानवता के लिए, मानव जाति के लिए, शान्ति और भाईचारा।

--ह्यूगो शावेज

कोपेनहेगन सम्मेलन में भाषण

विकल्प क्या है?

इस बात में अब कोई संदेह नहीं कि वर्तमान व्यवस्था को बनाये रखते हुए जलवायु संकट का समाधान करना सम्भव नहीं है। इस व्यवस्था के दायरे में इसके लिए जितने भी उपाय सुझाये गये हैं उनकी सफलता की कोई उम्मीद नहीं है। हम इस बात से अच्छी तरह वाकिफ हैं कि संकट पूँजीवाद का स्थायी लक्षण है। पूँजीवाद चिरस्थायी और निरन्तर जारी रहने वाली व्यवस्था नहीं है, क्योंकि

(1) अनन्त और असीम पूँजी संग्रह की लालसा इसे एक ऐसे उत्पादन तंत्र की ओर धकेलती है जिसका अन्तिम लक्षण लगातार फैलते जाना और मुनाफा देते रहना होता है, न कि मानवता की जरूरतों को पूरा करना।

(2) पूँजीवाद के अन्तर्गत खेती और खाद्य सुरक्षा प्रणाली पर्यावरण को नष्ट करती है, लेकिन फिर भी यह सबके लिए पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक भोजन मुहैय्या नहीं करती है।

(3) इसने पर्यावरण का अन्धाधुन्ध विनाश किया है।

(4) इसने दुनिया के गरीब और अमीर देशों के बीच तथा हर देश के भीतर गरीबों और अमीरों के बीच सम्पत्ति के बटवारे में गहरी खाई पैदा की है और उसे लगातार बढ़ाती जा रही है।

(5) तकनोलॉजी के रूप में हर समस्या की रामबाण दवा ढूँढने के जो दावे पूँजीवाद के पुरोधा करते रहे हैं वह और कुछ नहीं, बल्कि इस व्यवस्था द्वारा पैदा की गयी सामाजिक और जलवायु सम्बन्धी समस्याओं से ध्यान हटाना है।

प्रकृति को विनाश से बचाने के लिए सामाजिक न्याय, समानता, सामूहिकता और प्रकृति के साथ परस्पर निर्भरता के सम्बन्धों पर आधारित एक नयी समाज व्यवस्था का निर्माण जरूरी है। यह कोई कपोल कल्पना नहीं है। सामन्ती समाज के गर्भ में ही पूँजीवाद के बीज पल रहे थे और उसी के भीतर वह पैदा हुआ था। उसी तरह आज दुनिया के विभिन्न हिस्सों में विनाशकारी पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ विभिन्न प्रकार के विचार, संगठन और आन्दोलन क्रियाशील हैं। ये आंदोलन तात्कालिक मुद्दों को लेकर, स्थानीय

स्तर पर और कहीं-कहीं स्वतः स्फूर्त हो सकते हैं, लेकिन उम्मीद की किरण जन-प्रतिरोध के इन नाना-रूपों वाले पूँजीवाद विरोधी संघर्षों में ही है। ये बीज अपने भीतर विराट वृक्ष बनने की सम्भावना लिए हुए हैं, बशर्ते इनका संचालन सही क्रान्तिकारी विचारों की रोशनी में किया जाए।

1990 के आसपास जब दुनिया का शक्ति संतुलन विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के पक्ष में झुक गया था तो अपने अहंकार के मद में चूर, साम्राज्यवादी शक्तियों ने ''कोई विकल्प नहीं'' का नारा दिया था। 20 साल बीतने के बाद अब यह नारा नये अर्थ ग्रहण कर चुका है यदि इस धरती को और इस पर रहने वाले जीव जन्तुओं पेड़-पौधों और मानव जाति को बचाना है तो पूँजीवाद को पूरी तरह खत्म करने के अलावा अब ''कोई विकल्प नहीं।'' इस विनाशकारी व्यवस्था का एक मात्र विकल्प है समाजवाद, जहाँ रोजी-रोजगार के साधनों और जीवन की अनिवार्य जरूरतों भोजन, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य सेवा इत्यादि का बँटवारा सम्पूर्ण मानवता के हित में होगा, न कि बाजार की निष्ठुर शक्तियों की स्वार्थपूर्ति के लिए। जहाँ हर एक के लिए उत्पादक श्रम करना अनिवार्य होगा और दूसरों की कमाई पर पलने वाले जोंकों का नामोनिशान नहीं होगा। इसका अर्थ है सभी महत्त्वपूर्ण आर्थिक फैसले स्थानीय, क्षेत्रीय और अंतरराष्ट्रीय, हर स्तर पर सही मायने में लोकतांत्रिक प्रक्रिया से लिया जाना। तब सामाज का संचालन मुनाफा और पूँजी संचय की हवस से नहीं, बल्कि निम्नलिखित सरोकारों से होगा

(1) हर एक व्यक्ति को मनुष्य के लिए बुनियादी जरूरत की चीजों भोजन साफ पानी, आवास, कपड़ा, इलाज, शिक्षा और मनोरंजन की आपूर्ति कैसे की जाए? हर सक्षम व्यक्ति को सामाजिक उत्पादन में कैसे शामिल किया जाए?

(2) जो कुछ भी पैदा हो रहा है उसमें से कितने की खपत होने की सम्भावना है और उसके लिए कितना निवेश करना पड़ेगा?

(3) निवेश को किस प्रकार नियंत्रित किया जाय?

(4) इन कार्यों को सम्पन्न करने के दौरान प्रकृति के साथ सकारात्मक पारस्परिक क्रिया और जलवायु को बेहतर बनाने का सही तरीका क्या होगा?

इसके लिए संकीर्ण स्थानीय या राष्ट्रीय सीमाओं में सोचने के बजाय विश्व बन्धुत्व और अंतरराष्ट्रीयतावाद की भावनाओं से संचालित होना जरूरी होगा और वैश्विक स्तर पर सही मायने में लोकतांत्रिक ढांचे और रूपों का सृजन करना होगा। निश्चय ही इस सपने को पूरा करने के लिए स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक योजना की जरूरत होगी और यह सपना तभी साकार हो पायेगा जब केवल जनता के लिए ही

नहीं बल्कि जनता का और जनता के द्वारा नियोजन होगा।

मुनाफे की हवस में बाजारवादी ताकतों ने ऊँची क्रयशक्ति वाले मुट्ठी भर धनाढ्यों में अमर्यादित, भोग-विलास की उपभोक्तावादी संस्कृति को खूब बढ़ावा दिया है। लेकिन एक न्यायपूर्ण और समतामूलक समाज में लोगों के लिए न्यूनतम जरूरी साधनों से संतुष्ट रहना होगा। 'परमुण्डे फलाहार' करने वाले अय्याश हमारे आदर्श नहीं हो सकते। धरती की तबाही और दुनिया की बहुसंख्य आबादी की बदहाली की कीमत पर धनी देशों की, मुट्ठी भर मध्यमवर्गीय लोगों की जीवन शैली, जो खुद उन्हीं देशों में सबके लिए दुर्लभ है, उसकी नकल करने के बजाय एक विनम्र और किफायती जीवन शैली अपनाना जरूरी होगा। सादगी भरे जीवन में उपभोक्ता वस्तुओं की भले ही भरमार नहीं होगी, लेकिन वह जीवन सांस्कृतिक रूप से समृद्ध और लोगों के साथ जीवन्त रूप से जुड़ा हुआ होगा। ढेर सारे अनुत्पादक पेशों की, जो पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा और मुनाफाखोरी से पैदा हुए हैं, जरूरत ही नहीं रहेगी और उन्हें समाप्त कर दिया जाएगा। तार्किक ढंग से संगठित होने के चलते ऐसे समाज में काम के घंटे अपने आप ही काफी कम हो जायेंगे। 'सादा जीवन उच्च विचार' तथा 'जियो और जीने दो' का नारा तभी सार्थक होगा।

हमें इस पूँजीवादी दुष्प्रचार से उबारना होगा कि मानवता को न्याय और समता का स्वप्न दिखाने और उन्हें काफी हद तक जमीन पर उतारने वाले समाजवादी प्रयोग उलट-पलट दिये गये या असफल हो गये। असफलता ही सफलता का स्तम्भ है। यही विज्ञान का मंत्र है। हमें अतीत के उन प्रयोगों की असफलताओं से सीखने की जरूरत है, ताकि हम मानवता के भविष्य को सँवार सकें।

विकल्प हर चीज का है। सड़क परिवहन में ट्रकों-बसों और मोटर गाड़ियों की जगह रेलवे को बढ़ावा देना, उद्योग धन्धों को विकेन्द्रित करके बड़े शहरों की जगह छोटे कस्बों-शहरों की स्थापना करना, कार्यस्थल के करीब आवास की व्यवस्था करके अनावश्यक आवाजाही को रोकना, उपभोक्ता ने माल की स्थानीय खपत को योजनाबद्ध तरीके से प्रोत्साहित करना, ऐसे कई उपाय हैं, जिनसे पर्यावरण विनाश को काफी कम किया जा सकता है।

मुनाफे की भूख को हटा दें तो यातायात का सबसे किफायती और टिकाऊ साधन रेलवे है। ट्रकों की तुलना में प्रति टन, प्रति किलोमीटर ढुलाई का खर्च इसमें एक तिहाई कम आता है और इसमें कार्बन का धुआँ भी कम निकलता है। एक मालगाड़ी पर 250 से 500 ट्रकों का माल लद जाता है। साथ ही 8 लेन की सड़कों पर जितना आवागमन होता है उससे कहीं अधिक दो पटरी के रेल पर सम्भव है। लेकिन मुनाफे से संचालित

पूँजीवाद ने किस तरह रेलवे की जगह सड़क परिवहन को बढ़ावा दिया इसकी चर्चा पहले ही जा चुकी है।

यह सही है कि कहना आसान है, करना कठिन। लेकिन जब भी कोई नया विचार, जो बहुजन हिताय हो, जन-जन का विचार बन जाता है, तो उसे जमीन पर उतरते और नये समाज की बुनियाद बनते देर नहीं लगती। दुनिया भर की क्रांतियाँ इस बात की गवाह हैं कि कुछ लोगों के मन-मस्तिष्क में जो विचार पैदा होते हैं, वही आम जनता तक पहुँचकर क्रांति का वाहक बन जाते हैं चाहे फ्रांसीसी क्रांति हो, अमरीकी क्रांति या रूस-चीन की क्रान्ति। निश्चय ही यह काम दो चार-दस लोगों के वश का नहीं है। इसके लिए विचारशील, धैर्यवान और कर्मठ कार्यकर्ताओं की एक पूरी पीढ़ी और उनके द्वारा निर्मित मजबूत संगठन जरूरी होगा। करोड़ों जनता जो वंचित है और सामाजिक व पर्यावरण सम्बन्धी विपत्तियों से सबसे अधिक त्रस्त है इस अभियान में बढ़-चढ़कर साथ देगी।

परिशिष्ट -I

मानवजाति खतरे में पड़ी एक प्रजाति

(पृथ्वी सम्मेलन- [1992] में फिदले कास्त्रो का भाषण)

एक महत्त्वपूर्ण जैविक प्रजाति मानवजाति के सामने अपने प्राकृतिक वास-स्थान के तीव्र और क्रमशः बढ़ते विनाश के कारण विलुप्त होने का खतरा है। इस समस्या के बारे में हम उस समय अवगत हो रहे हैं जब इसकी रोकथाम करने का वक्त लगभग हाथ से निकल चुका है। उल्लेखनीय है कि पर्यावरण के इस भयावह विनाश के लिए उपभोक्तावादी समाज ही मुख्यतः जिम्मेदार है।

ये समाज भूतपूर्व औपनिवेशिक महानगरों की देन हैं। वे उन साम्राज्यवादी नीतियों की सन्तान हैं जो खुद बहुसंख्यक मानवता पर कहर ढा रही गरीबी और पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार हैं।

दुनिया की जनसंख्या का महज 20 प्रतिशत होने के बावजूद वे दुनिया भर में धातुओं के कुल उत्पादन के दो-तिहाई और ऊर्जा के कुल उत्पादन के तीन-चौथाई का उपभोग करते हैं। उन्होंने नदियों और समुद्रों में जहर घोल दिया है, हवा को प्रदूषित कर दिया है तथा ओजोन की परत को कमजोर करके उसे छेद डाला है। उन्होंने वायुमण्डल को गैसों से सन्तृप्त कर पर्यावरण में ऐसे अनर्थकारी बदलाव ला दिये हैं जिनकी मार हम पर पड़नी शुरू हो चुकी है।

जंगल खत्म होते जा रहे हैं। रेगिस्तानों का विस्तार हो रहा है। अरबों टन उपजाऊ मिट्टी हर साल बहकर समुद्र में चली जाती है। बहुत सारी प्रजातियाँ विलुप्त होती जा रही हैं। जनसंख्या का दबाव और गरीबी में भी जीने की विवशता आदमी को निराशोन्मत्त प्रयासों की ओर धकेलती है, यहाँ तक कि प्रकृति के विनाश की कीमत पर भी। तीसरी दुनिया के देशों यानी कल के उपनिवेश और आज के राष्ट्र जो एक अन्यायपूर्ण आर्थिक विश्व-व्यवस्था में शोषण और लूट के शिकार हैं को इस सबके लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

इसका समाधान यह नहीं हो सकता कि उन देशों का ही विकास रोक दिया जाए जिन्हें इसकी सबसे ज्यादा जरूरत है। क्योंकि आज अल्पविकास और गरीबी को बढ़ाने वाला हर कारक पर्यावरण के साथ जघन्य बलात्कार है।

परिणामस्वरूप, तीसरी दुनिया में हर साल करोड़ों औरत-मर्द और बच्चे काल के गाल में समा जाते हैं। दोनों में से किसी विश्व युद्ध में इतने लोग नहीं मारे गये।

असमान व्यापार, संरक्षणवाद और विदेशी कर्ज पर्यावरण-सन्तुलन पर घातक प्रभाव डालते हैं और उसके विनाश को बढ़ावा देते हैं। यदि हम मानवजाति को इस आत्मघात से बचाना चाहते हैं तो पूरी पृथ्वी पर धन-दौलत और उपलब्ध तकनीक का बेहतर तरीके से वितरण करना होगा। कुछ देशों में ऐशोआराम और बर्बादी में कटौती करने का मतलब होगा अधिकांश विश्व में कम गरीबी और कम भुखमरी।

पर्यावरण को तबाह करने वाली जीवन शैली और उपभोग की आदतों का तीसरी दुनिया को निर्यात बन्द करो। मानव जाति को और ज्यादा तर्कसंगत बनाओ। एक अधिक न्यायसंगत आर्थिक विश्व-व्यवस्था अपनाओ। प्रदूषण रहित टिकाऊ विकास के लिए विज्ञान को आधार बनाओ। विदेशी कर्ज की जगह पर्यावरण का कर्ज चुकाओ। भूख को हटाओ, मानव जाति को नहीं।

आज जब कम्युनिज्म का तथाकथित खतरा नहीं रह गया है और शीतयुद्ध या हथियारों की होड़ और भारी-भरकम सैन्य खर्चों को जारी रखने का भी कोई बहाना नहीं बचा है, फिर वह क्या चीज है जो तमाम संसाधनों को तेजी से तीसरी दुनिया के विकास को प्रोत्साहित करने में लगाने और हमारे ग्रह के सामने मौजूद पर्यावरण को विनाश के खतरे का मुकाबला करने से हमें रोक रही है?

स्वार्थपरता बहुत हो चुकी। दुनिया पर वर्चस्व कायम करने के मंसूबे बहुत हुए। असंवेदनशीलता, गैरजिम्मेदारी और फरेब की हद हो चुकी है। जिसे हमें बहुत पहले ही करना चाहिए था, उसे करने के लिए कल बहुत देर हो चुकी होगी।

कोचाबाम्बा मसविदा दस्तावेज

जलवायु परिवर्तन और धरती माँ के अधिकारों के बारे में जनता का राजीनामा

26 अप्रैल, 2010

(जलवायु परिवर्तन के ढाँचागत कारणों पर विचार-विमर्श करने और मानवता के सामने प्राकृतिक जगत के साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन का एक वैकल्पिक प्रारूप प्रस्तावित करने के लिए कोचाबाम्बा (बोलीविया) में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें दुनिया भर से 18,000 लोग शामिल हुए जिनमें वैज्ञानिक, बुद्धिजीवी, वकील उपदेशों के सरकारी प्रतिनिधि और 132 देशों के सामाजिक संगठनों ने भाग लिया।

यह सम्मेलन कॉपेनहेगन जलवायु सम्मेलन, दिसम्बर 2009 की असफलता के जवाब में आयोजित किया गया। कोपेनहेगन में अमरीकी चौधराहट वाले मुट्ठी भर विकसित पूँजीवादी देशों ने क्वेटो प्रोटोकॉल द्वारा निर्धारित कार्बन उत्सर्जन में कटौती की बाध्यताओं को अस्वीकार कर दिया। इस तरह उन्होंने धरती माता को बचाने के लिए वैश्विक प्रयासों की रही सही उम्मीद पर भी पानी फेर दिया।

कोचाबाम्बा सम्मेलन के उद्घाटन भाषण में बोलीविया के राष्ट्रपति इवो मोरालिस ने कहा था कि "हमारे पास दो ही रास्ते हैं धरती माँ या मौत।" बोलीविया के उपराष्ट्रपति पूर्व छापामार योद्धा अलवारो गार्सियां किनेरा ने कहा था कि "धरती माँ की अवधारणा महज एक नारा नहीं है। इसका अर्थ उत्पादन करने तथा प्रकृति और एक दूसरे के साथ सम्बन्ध बनाने का एक नया रास्ता है। यह सम्बन्ध वर्चस्व का नहीं समानता का है, बातचीत का, लेने और देने का सम्बन्ध है। यह महज लोक संस्कृति का दर्शन नहीं है। यह नयी नैतिकता, टेक्नोलोजी ओर उत्पादन प्रणाली विकसित करने का नया रास्ता है।"

सम्पादक)

धरती माँ के हक और जलवायु परिवर्तन पर कोचाबाम्बा (बोलीविया) में सम्पन्न विश्व जनगण के सम्मेलन की निर्णायक घोषणा,

आज हमारी धरती माँ आहत है और मानवता का भविष्य खतरे में है।

यदि भूमण्डल का ताप 2 डिग्री सेल्सियस से ज्यादा बढ़ जाता है, जो स्थिती कोपनहेगन समझौते के कारण पैदा हो सकती है, तो 50 फीसदी सम्भावना यही है कि हमारी धरती माँ को इससे जो नुकसान होगा उसकी भरपाई पूर्णतया असम्भव होगी। 20 से 30 फीसदी प्रजातियों के विलुप्त होने का खतरा पैदा हो जायेगा। बड़े पैमाने पर जंगल प्रभावित होंगे, बाढ़ और सूखा इस ग्रह के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित करेंगे, रेगिस्तानों का फैलाव होगा तथा ध्रुवों के हिमशिखर और हिमालय व एंडीज के ग्लेशियर और भी बुरी तरह पिघलने लगेंगे। बहुत से द्वीप-देश गायब हो जायेंगे और अफ्रीका को 3 डिग्री सेल्सियस से भी अधिक तापमान वृद्धि का शिकार होना पड़ेगा। इस तरह दुनिया का अनाज उत्पादन घट जायेगा और दुनिया में भुखमरी के शिकार लोगों की संख्या जो पहले ही 1.02 अरब का आँकड़ा पार कर चुकी है, अचानक तेजी से बढ़ जायेगी।

तथाकथित ''विकसित'' देशों के निगमों और सरकारों ने वैज्ञानिक समुदाय के थोड़े से लोगों के साथ मिलकर हमें जलवायु परिवर्तन के बारे में एक ऐसी बहस में उलझाया है जिसमें इस समस्या को केवल तापमान में वृद्धि तक ही सीमित कर दिया गया है। वे इसके कारणों की कोई चर्चा नहीं करते क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था ही इस समस्या की जड़ है।

हमारा सामना सभ्य बनाने का दावा करने वाले एक मॉडल के चरम संकट से हो रहा है, जो वंशानुगत है तथा मानव जाति और प्रकृति की उस गुलामी और विनाश पर आधारित है जिसकी रफ्तार औद्योगिक क्रान्ति के समय से ही काफी तेज हो गयी थी।

पूँजीवादी व्यवस्था ने हम लोगों के ऊपर प्रतियोगिता, प्रगति और असीम विकास का एक तर्क थोप दिया है। उत्पादन और उपभोग की यह शासन प्रणाली मानवजाति को प्रकृति से अलग करके, प्रकृति पर अधिपत्य का तर्क थोपकर, जल, जमीन, मानव जीनोम, पुरखों की संस्कृति, जैव विविधता, न्याय, नैतिकता, जनता के अधिकार और खुद जीवन समेत हर चीज को माल में तब्दील करके बेशुमार मुनाफा बटोरना चाहती है।

पूँजीवाद के अन्तर्गत, धरती माँ को कच्चे माल के एक स्रोत और मानव जाति को उपभोक्ता और उत्पादन के एक साधन में तब्दील कर दिया गया है, जहाँ लोगों की कीमत इससे तय होती है कि वे कितने मालदार हैं, इस बात से नहीं कि वे कौन हैं। अपनी

पूँजी संचय की प्रक्रिया को जारी रखने तथा प्राकृतिक संसाधनों और स्वायत्त क्षेत्रों पर कब्जे के खिलाफ होने वाले जन-प्रतिरोधों को कुचलने के लिए पूँजीवाद को एक शक्तिशाली सैन्य उद्योग की जरूरत होती है। यह इस ग्रह के उपनिवेशीकरण की एक साम्राज्यवादी व्यवस्था है।

मानवता आज एक भारी दुविधा का सामना कर रही है पूँजीवाद, लूटपाट और मौत के रास्ते पर आगे बढ़ना जारी रखे या प्रकृति के साथ समन्वय और जीवन के प्रति सम्मान का मार्ग अपनाये।

एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना बेहद जरूरी है जो प्रकृति के साथ और मानव जाति के बीच आपसी तालमेल के लिए फिर से बहस करे। प्रकृति के साथ सन्तुलन कायम करने के लिए मानव जाति के बीच समानता का होना जरूरी है। हम विश्व जनगण के समक्ष और हर देश के मूल निवासियों के ज्ञान, विवेक और रीति-रिवाजों का उद्धार करने, उनको और अधिक समृद्ध करने तथा मजबूती प्रदान करने का प्रस्ताव रखते हैं। मूल निवासी ''अच्छी जिन्दगी'' के विचार और व्यवहार में पूरी तरह विश्वास करते हैं और धरती माँ को जीवित प्राणी मानते हुए उसके साथ अविच्छिन्न, परस्पर निर्भर, सम्मानपूर्ण और आत्मीय सम्बन्ध रखते हैं। जलवायु परिवर्तन का सामना करने के लिए हमें धरती माँ को जीवन का स्रोत मानते हुए और निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित एक नयी व्यवस्था का निर्माण करना जरूरी है।

- सभी लोगों के बीच व सभी चीजों के साथ सन्तुलन और समन्वय;
- परिपूरकता, भाईचारा और समानता;
- प्रकृति के साथ जनता का सामन्जस्य;
- मनुष्यों की पहचान इस बात से तय होना कि वे कौन हैं, इससे नहीं कि वे किन-किन चीजों के मालिक हैं;
- उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और दखलन्दाजी के सभी रूपों की समाप्ति;
- जनता के बीच और धरती माँ के साथ शान्ति;

हम जिस मॉडल के हिमायती हैं वह अमर्यादित और विनाशकारी विकास का मॉडल नहीं है। सभी देशों को अपनी जनता की मूलभूत जरूरतों की पूर्ति के लिए माल और सेवाओं के उत्पादन की जरूरत होती है, लेकिन हम किसी भी सूरत में सर्वाधिक धनी देशों द्वारा अपनाये गये उस रास्ते पर नहीं चल सकते जिसने इस ग्रह के ऊपर उसकी क्षमता से पाँच गुना बड़ा पारिस्थितिक बोझ डाल दिया है। आज इस ग्रह की पुनर्रुत्पादक क्षमता

अपनी चरम सीमा से 30 फीसदी ज्यादा बढ़ चुकी है। यदि हमारी धरती माँ के बेलागाम शोषण की यही रफ्तार जारी रही तो सन् 2030 तक हमें ऐसे दो ग्रहों की जरूरत होगी। एक परस्पर निर्भर तन्त्र, मानव जाति जिसका केवल एक घटक है, केवल मानव पक्ष के अधिकारों को ही स्वीकार किया जाना, इस पूरे तन्त्र में असंतुलन को बढ़ावा दिये बिना बिल्कुल सम्भव नहीं। मानवधिकारों की गारण्टी करने और प्रकृति के साथ फिर से समन्वय स्थापित करने के लिए धरती माँ के आधिकरों को प्रभावी ढंग से स्वीकारना और उन्हें लागू करना आवश्यक है। इस उद्देश्य के लिए हम 'धरती माँ के अधिकारों पर सार्वभौम-घोषणा पत्र' की योजना प्रस्तावित करते हैं जो यहाँ संलग्न है, जिसमें यह दर्ज है कि

- जिन्दा रहने और अस्तित्व बनाये रखने का अधिकार;
- जैविक क्षमता को पुनर्जीवित करने और अपने प्रमुख चक्रों और प्रक्रियाओं को मानवीय परिवर्तन से बचाते हुए उन्हें जारी रखने का अधिकार;
- अलग-अलग जीवों के रूप में अपनी स्व-नियंत्रित और परस्पर-सम्बन्धित पहचान और एकजुटता कायम रखने का अधिकार;
- जीवन के स्रोत के रूप में पानी का अधिकार;
- स्वच्छ हवा का अधिकार;
- सम्पूर्ण स्वास्थ्य का अधिकार;
- जहरीले और रेडियोधर्मी कचरे से, गन्दगी और प्रदूषण से मुक्त होने का अधिकार;
- जैविक संरचना में ऐसी फेरबदल और तोड़-मरोड़ से मुक्ति का अधिकार जो इसकी अखण्डता या जीवन्त और स्वस्थ क्रियाशीलता के लिए खतरा पैदा करते हैं;
- इस घोषण पत्र में दिये गये अधिकारों का यदि मानवीय क्रिया कलापों के चलते उल्लंघन हो तो उसकी तत्काल और पूरी तरह भरपाई का अधिकार;

हमारा यह ''साझा सपना'' ग्रीन हाउस गैसों की सघनता को स्थिर करने की माँग करता है, ताकि 'जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र संघ के रूपरेखा सम्मेलन' के अनुच्छेद-2 को प्रभावी बनाया जा सके, जिसमें कहा गया है कि वातावरण में ग्रीन हाउस गैसों की सघनता को एक खास स्तर तक स्थिर रखना होगा जो जलवायु प्रणाली के लिए खतरनाक मानव जनित दुष्परिणामों को रोकता हो। **हमारा सपना इतिहाससम्मत, सामुहिक, लेकिन अलग-अलग जिम्मेदारियों के सिद्धान्त पर आधारित है**। यह

विकसित देशों से माँग करता है कि वे उस सीमा तक उत्सर्जन में कमी लाने का वादा निभायें जितना समझौते में निर्धारित है। इससे ग्रीन हाउस गैसों की सघनता को 300 पीपीएम तक वापस लाया जा सकेगा, ताकि विश्व के तापमान में 1 डिग्री सेल्सियस से अधिक वृद्धि न हो।

विकसित देशों को चाहिए कि वे इस सपने को साकार करने के लिए तुरन्त कार्रवाई की जरूरत को तरजीह दें तथा जनता और जन-आन्दोलनों के समर्थन से उत्सर्जन कम करने के शानदार लक्ष्य को पूरा करें। जो तात्कालिक उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक है, साथ ही वे सम्मेलन के अन्तिम उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए पृथ्वी के जलवायु तन्त्र में सन्तुलन के हक में हमारे सपने को समर्थन प्रदान करें।

जलवायु परिवर्तन की वार्ताओं में ''दीर्घकालिक सहयोगी कार्रवाई के लिए साझा सपने'' को तापमान में वृद्धि और वातावरण में ग्रीन हाउस गैसों की सघनता की सीमा तय करने के स्तर तक नहीं गिरा देना चाहिए। साथ ही इसमें क्षमतासंवर्धन, उत्पादन और उपभोग के पैटर्न और दूसरे जरूरी कारकों, जैसे प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए धरती माँ के अधिकारों को कबूल करने से सम्बन्धित उपायों को भी संतुलित और समन्वित ढंग से सम्मिलित किया जाना चाहिए।

विकसित देशों को जो जलवायु परिवर्तन के लिए मुख्य रूप से दोषी हैं, अपनी ऐतिहासिक जिम्मेदारी मानते हुए, जलवायु परिवर्तन के न्यायसंगत, प्रभावशाली और वैज्ञानिक समाधान की बुनियादी शर्त के रूप में निश्चित ही अपने जलवायु कर्ज के सभी आयामों को स्वीकारना और सम्मान करना चाहिए।

इस संदर्भ में हम विकसित देशों से माँग करते हैं कि

- विकासशील देशों के वायुमण्डलीय क्षेत्र को फिर से स्वच्छ करें जो विकसित देशों द्वारा उत्सर्जित ग्रीन हाउस गैसों से भरा है। मतलब यह है कि अपने उत्सर्जन में कमी लायें और गन्दगी को सोखें, ताकि विकासशील देशों के वायुमण्डल पर उनका औपनिवेशिक कब्जा समाप्त हो।
- नियन्त्रित वायुमण्डलीय क्षेत्रों में होने के कारण विकासशील देशों को विकास के अवसरों का जो नुकसान उठाना पड़ा है उसकी भरपाई के लिए वे तकनीकी स्थानान्तरण की जरूरतों और कीमतों की जिम्मेदारी अपने ऊपर लें।
- विकसित देशों द्वारा किये गये जलवायु परिवर्तन के चलते जो करोडों लोग उजड़ने को मजबूर होंगे, उसकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लें और अपनी प्रतिबन्धकारी

आव्रजन नीतियों को खत्म करें, अपने देश में प्रवासियों के लिए मानवधिकारों की गारण्टी के साथ उन्हें सम्मानपूर्ण जीवन प्रदान करें।

• अपने अत्यधिक उत्सर्जन के चलते लगातार बढ़ते नुकसान की रोकथाम करने, उसे कम से कम करने और निपटाने के साधन मुहैय्या करें और विकासशील देशों को जलवायु परिवर्तन के दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए कर्ज का जो बोझ उठाना पड़ रहा है उसकी जिम्मेदारी लें।

• धरती माँ के अधिकारों के बारे में संयुक्त राष्ट्र संघ के सार्वभौम घोषण-पत्र को स्वीकारते और लागू करते हुए धरती माँ के व्यापक कर्ज के एक हिस्से के रूप में वे इन कर्जों का भुगतान करें।

यह जरूरी है कि केवल वित्तीय मुआवजे पर ही नहीं बल्कि पुनरूद्धार कारक न्याय पर भी ध्यान रहे और इसे हमारी धरती माँ और इसके सभी जीवों की समन्वित पुनः प्रतिष्ठा मानते हुए पूरा किया जाय।

हम कई देशों द्वारा क्वेटो प्रोटोकॉल को रद्द करने के प्रयासों पर खेद प्रकट करते हैं। यह एक मात्र ऐसा दस्तावेज है जिसके जरिये विकसित देशों को ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन घटाने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

हम विश्व को यह सूचित करते हैं कि उत्सर्जन को घटाने की अपनी वचनबद्धता के बावजूद विकसित देशों ने अपना उत्सर्जन 1990 से 2007 के बीच 11.2 प्रतिशत बढ़ा दिया है।

इसी अवधी में बेलगाम उपभोग के चलते अमरीका ने अपने ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन 16.8 प्रतिशत तक बढ़ा दिया जो प्रतिव्यक्ति औसतन 20 से 23 टन CO_2 प्रतिवर्ष तक पहुँच गया है। यह औसत तीसरी दुनिया के निवासियों की तुलना में 9 गुणा और अफ्रीका के निवासियों की तुलना में 20 गुणा से भी अधिक है।

हम अवैध ''कोपनहेगन सम्मेलन'' को पूरी तरह खारिज करते हैं, जो धरती माँ की पर्यावरणीय सम्पूर्णता की अवहेलना करता है और हमें वैश्विक तापमान में 4^oc की वृद्धि की ओर ढकेलता है, यह प्रस्ताव विकसित देशों को उनकी स्वैच्छिक और व्यक्तिगत वचनबद्धता के आधार पर ग्रीन हाउस गैसों में केवल मामूली कमी लाने का प्रस्ताव है।

जलवायु परिवर्तन पर अगला सम्मेलन 2010 के अन्त में मैक्सिको में होना तय है। इसमें 2013 से 2017 तक के दूसरे इकरार की अवधि के लिए क्वेटो प्रोटोकॉल में एक बदलाव लाया जाना चाहिए, जिसके तहत विकसित देशों के लिए 1990 के स्तर

के आधार पर अपने घरेलू उत्सर्जन में कम से कम 50 फीसदी तक की कमी लाने पर सहमत होना अनिवार्य हो और जिसमें कार्बन बाजारों या भरपाई की अन्य क्रियाविधियों को, जिनकी आड़ में वे ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में वास्तविक कमी पर परदा डालते हैं, शामिल नहीं किया गया हो।

सबसे पहले हमें विकसित राष्ट्रों के समूह के लिए एक लक्ष्य निर्धारित करने की जरूरत है ताकि हर विकसित राष्ट्र से उस समूह में अपने हिस्से के रूप में निर्धारित कार्यभार पूरा करवाया जा सके। तभी हम उत्सर्जन में कमी लाने के एक तौर-तरीके के रूप में क्वेटो प्रोटोकॉल को कायम रख पायेंगे।

परिशिष्ट-1 के रूप में अमरीका पृथ्वी पर एक मात्र ऐसा देश है, जिसने क्वेटो प्रोटोकॉल का अनुमोदन नहीं किया जबकि दुनिया की समूची जनता के प्रति उसकी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी है कि इस दस्तावेज का समर्थन करे और अपनी अर्थव्यवस्था के कुल आकार के अनुरूप निर्धारित स्तर तक उत्सर्जन घटाने के लक्ष्यों का सम्मान और निर्वाह करने के लिए खुद को वचनबद्ध करे।

हम दुनिया के लोग जलवायु परिवर्तन के दुष्प्रभावों से अपनी सुरक्षा का समान अधिकार रखते हैं और जलवायु परितर्वन के अनुरूप खुद को ढालने की धारणा को खारिज करते हैं क्योंकि हम इसे विकसित देशों के द्वारा पूरे इतिहास के दौरान किये गये उत्सर्जनों से उत्पन्न दुष्प्रभावों के आगे आत्मसमर्पण मानते हैं। यह जरूरी है कि मौजूदा संकटकालीन स्थितियों को देखते हुए विकसित देश खुद भी अपने जीवन और उपभोग के तौर तरीकों को इसके अनुकूल ढालें।

हम अनुकूलन को एक थोपी हुई चीज के बजाय एक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं और इसे जलवायु परिवर्तन के प्रतिकूल प्रभावों का सामना करने की एक विधि मानते हैं। साथ ही हम इसे एक ऐसे उपकरण के रूप में देखते हैं जो उन दुष्प्रभावों को उलटने में मददगार साबित हो सकता है और जो यह निरूपित करता है कि जिन्दगी जीने के एक अलग तौर-तरीके के जरिये प्रकृति के साथ सामन्जस्य स्थापित करना सम्भव है।

जलवायु परिवर्तन का सामना करने के लिए एक स्वायत्त, पारदर्शी और सभी देशों के लिए समान रूप से संचालित वित्तीय क्रियाविधि के रूप में बिल्कुल अलग से एक अनुकूलन कोष का निर्माण करना आवश्यक है। इस कोष से विकासशील देशों में जलवायु परिवर्तन के दुष्प्रभावों और कीमतों का आकलन करना चाहिए तथा इन प्रभावों से उत्पन्न जरूरतों तथा विकसित देशों द्वारा दिये जाने वाले सहयोग की निगरानी करनी चाहिए।

इससे वर्तमान और भविष्य के नुकसानों के लिए मुआवजा, जलवायु में उत्कट और कृमिक बदलावों के चलते अवसरों का नुकसान और यदि हमारा ग्रह परिस्थितिकीय संकट की चरम सीमा पार कर जाये तो उससे पैदा अतिरिक्त कीमतों, जैसे ''बेहतर जीवन'' में बाधाएँ डालने वाले प्रभावों की क्षतिपूर्ती के लिए एक क्रियाविधि को शामिल करना जरूरी है।

गिनीचुनी सरकारों द्वारा विकासशील देशों पर थोपा गया ''कोपेनहेगन समझौता'' एक तरफ जहाँ अपर्याप्त संसाधन मुहैय्या कराता है वहीं जनता में फूट डालने और उनके बीच टकराव पैदा करने का प्रयास करता है। साथ ही यह अनुकूलन प्रशासन के लिए संसाधन प्राप्त करने से सम्बन्धित कठोर शर्तें लगाकर विकासशील देशों को लूटता है। अन्तरराष्ट्रीय वार्ता की प्रक्रियाओं में जलवायु परिवर्तन के आगे विकासशील देशों की दुर्बलता की अलग-अलग श्रेणीयाँ बनाकर उनके बीच विवादों, असमानताओं और अलगाव को जन्म देने के प्रयास को भी हम दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करते हैं।

आज मानवता ग्लोबल वार्मिंग को रोकने और ग्रह को ठण्डा करने की जिस कठिन चुनौती का सामना कर रही है उसे केवल खेती के तौर-तरीकों की दिशा बदलकर उन्हें ग्रामीण और मूलनिवासी किसानों द्वारा अपनाये गये उत्पादन के टिकाऊ ढंग-ढर्रे और साथ ही पीढ़ियों से चली आ रही कृषि और खाद्य सुरक्षा की समस्या को हल करने मे सहायक, दूसरी पद्धतियों की दिशा में मोड़कर ही सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसे जनता का अपने बीजों, जमीनों, पानी और खाद्य उत्पादन पर नियंत्रण का अधिकार समझा जाता है, जिसके माध्यम से हर व्यक्ति और राष्ट्र के स्वायत्त उत्पादन (हिस्सेदारी, सामुदायिकता, और भागीदारी) को गहरा करते हुए धरती माँ और स्थानीय सांस्कृतिक अवस्थाओं के साथ सामंजस्यपूर्ण उत्पादन प्रणाली अपनाते हुए भरपूर मात्रा में तरह-तरह के पौष्टिक भोजन हासिल करने की गारण्टी की जाती है।

जलवायु परिवर्तन अब पूरी दुनिया की खेती तथा किसानों और मूल निवासी जनता के लिए गंभीर खतरे पैदा कर रहा है जो भविष्य में और भी गम्भीर रूप धारण करेंगे।

वैश्विक पूँजीवादी उत्पादन के अपने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मॉडल के तहत कृषि व्यापार में लगे पूँजीपति समुचित पोषण का अधिकार पूरा करने के लिए नहीं बल्कि बाजार के लिए उत्पादन करते हैं और जलवायु परिवर्तन के मुख्य दोषियों में से एक है। इनका तकनीकी, व्यवसायिक और राजनीतिक दृष्टिकोण जलवायु परिवर्तन के संकट को और अधिक गहराने का ही काम करता है और दुनिया भर में भुखमरी को बढ़ाता

है। यही वजह है कि मौजूदा संकट को और अधिक उग्र बनाने वाले मुक्त व्यापार संगठन समझौतों, जीवन पर बौद्धिक सम्पदा अधिकारों को लागू करने के सभी रूपों, मौजूदा तकनीकी पैकेजों (कृषि-रसायनों, जैविक संवर्धन) और फर्जी सामाधान पेश करने वाले उपायों (जैव-ईंधन, भू-अभियांत्रिकी, नैनो टैक्नोलोजी आदि) को हम पूरी तरह खारिज करते हैं।

इसी तरह हम उस तरीके की भी भर्त्सना करते हैं जिसके जारिये पूँजीवादी मॉडल ढाँचागत महापरियोजनाओं को थोपता है और लूट-खसोट वाली परियोजनाओं के जरिये देश की सीमाओं में घुसपैठ करता है, पानी का निजीकरण करता है, इलाकों को सैनिक छावनी में तब्दील करता है, वहाँ के मूल निवासियों को उनकी जमीनों से उजाड़ता है, खाद्य आत्मनिर्भरता में बाधा डालता है तथा समाज और पर्यावरण के संकट को बढाता है।

जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र के रूपरेखा सम्मेलन की वार्ताओं में प्रयुक्त वन की परिभाषा, जिसमें बागान को भी शामिल कर लिया गया है, हमें स्वीकार नहीं। एक फसली कृषि बागान वन नहीं हैं। इसलिए हमें वार्ता के उद्देश्य के लिए एक नयी परिभाषा की जरूरत है, जो स्थानीय जंगलों, वनों और पृथ्वी पर विविध पारिस्थितिक तन्त्र को मान्यता देती हो।

मूल निवासी जनता के अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र को जलवायु परिवर्तन की वार्ताओं में पूरी तरह स्वीकार किया जाना चाहिए, उसका क्रियान्वयन होना चाहिए और उसे वार्ताओं में समन्वित करना चाहिए। वनों को विनाश और विकृतीकरण से बचाने तथा प्राकृतिक जंगलों और वनों को बचाने के लिए सबसे बढ़िया रणनीति और कार्रवाई जमीन और भौगोलिक इलाकों के सामुहिक अधिकार को मान्यता देना और उसकी गारण्टी करना है, विशेषकर इस बात को ध्यान में रखते हुए कि अधिकतर जंगल मूल निवासी जनता तथा राष्ट्रों और अन्य पारम्परिक समुदायों के भौगोलिक क्षेत्र के भीतर अवस्थित हैं।

हम आरइडीडी (वन विनाशन और वन सधोगति के जरिये उत्सर्जन घटाना) और इसके बाजार क्रियाविधि जैसे रूपों की भर्त्सना करते हैं जो जनता की सम्प्रभुता तथा पूर्व सूचना के आधार पर और स्वतन्त्र रूप से सहमति देने के अधिकार और साथ ही राष्ट्रीय राज्यों की स्वायत्ता, जनता के रीति रिवाज और प्रकृति के अधिकारों का उलंघन करता है।

प्रदूषण फैलाने वाले देशों की यह जिम्मेदारी है कि वे देशों, जनता और मूलनिवासियों के पुरखों की जैविक संरचनाओं की हिफाजत करने तथा वनों के पुनरुद्धार और रख-रखाव

की कीमत चुकाने के लिए जरूरी आर्थिक और तकनीकी संसाधनों का सीधे हस्तान्तरण करें। क्षतिपूर्ति निश्चित ही, कार्बन मार्केट के बाहर विकसित देशों द्वारा पहले स्वीकारे गये फंण्डिंग के स्रोतों के अतिरिक्त होनी चाहिए और उसका भुगतान सीधे होना चाहिए। हम माँग करते हैं कि विकसित देश अपने स्थानीय वनों के बारे में ऐसी कार्रवाइयों पर रोक लगाएँ जो बाजार क्रियाविधी पर आधारित हो और जिनका इरादा अप्रचलित और सशर्त नतीजे हासिल करना हो। हम सरकारों का आह्वान करते हैं कि वे प्राकृतिक वनों और जंगलों के पुनरुद्धार के लिए एक विश्वव्यापी कार्यक्रम तैयार करें जिसमें वनों का प्रशासन और प्रबन्धन जनता के हक में हो और जिसमें जंगली बीजों, फलदार वृक्षों और देशज पेड़-पौधों को प्रयोग में लाया जाय। सरकारों को जंगल सम्बन्धी रियायतों को खत्म करना चाहिए, धरती के गर्भ में स्थित पैट्रोलियम भंडारों के संरक्षण का समर्थन करना चाहिए और जंगल की जमीनों से हाइड्रोकार्बन के दोहन पर तुरन्त रोक लगानी चाहिए।

हम सरकारों का आह्वान करते हैं कि वे जलवायु परिवर्तन की चुनौतियों से निपटने के लिए वार्ताओं, नीतियों और मानदण्डों में प्रयुक्त सभी जरूरी उपकरणों के साथ-साथ मानवाधिकार के अन्तरराष्ट्रीय मानदण्डों और मूलनिवासी जनता के अधिकारों को स्वीकार करें, उनका सम्मान करें और उनको प्रभावी ढंग से लागू करने को गारण्टी करें जिनमें अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन सम्मेलन के अन्तर्गत मूल निवासी जनता के अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र का घोषणा पत्र भी शामिल है। हम खासतौर पर सरकारों का आह्वान करते हैं कि हमारी पारम्परिक जीवन शैली को समर्थ और सशक्त बनाने के लिए वे हमारे भौगोलिक क्षेत्रों, जमीनों, और प्राकृतिक संसाधनों के ऊपर कानूनी अधिकार प्रदान करें और जलवायु परिवर्तन का समाधान करने में प्रभावी योगदान दें।

हम सभी वार्ता प्रक्रियाओं में, और जलवायु परिवर्तन से सम्बन्धित उपायों के प्रारूप और क्रियान्वयन में मूल निवासी जनता के परामर्श, भागीदारी तथा पूर्व सूचना के आधार पर और स्वतन्त्र रूप से सहमति देने के अधिकार के पूर्ण और प्रभावी क्रियान्वयन की माँग करते हैं।

आज पर्यावरण की अधोगति और जलवायु परिवर्तन नाजुक स्तर तक पहुँच गया है। घरेलू और अन्तरराष्ट्रीय विस्थापन इसके प्रमुख दुष्परिणामों में से एक है। अनुमानों के अनुसार जलवायु परिवर्तन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों के चलते 1995 तक लगभग 2.5 करोड़ लोग उजड़ चुके थे 2050 तक 20 करोड़ से 1 अरब के बीच लोग उजड़ जायेंगे। विकसित देशों को जलवायु विस्थापितों को परिभाषित करने वाले

अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों को महत्त्व देते हुए उनके मूलभूत अधिकारों को मान्यता देनी चाहिए और सभी सरकारों को पूरी दृढ़ता के साथ उस पर कायम रहना चाहिए।

राज्यों, कम्पनियों और दूसरे एजेन्टों की जिम्मेदारियों को साफ तौर पर चिन्हित करते हुए, उद्गम, पारगमन और लक्षित देशों के भीतर अप्रवासियों, शरणार्थियों और उजड़े हुए लोगों के अधिकारों के हनन के मामलों की निन्दा करने, उन्हें सामने लाने, लिखित प्रमाण जुटाने, न्याय करने और सजा देने के लिए एक विवेकशील अन्तरराष्ट्रीय ट्रिब्यूनल की स्थापना करनी चाहिए।

जलवायु परिवर्तन के मद में विकासशील देशों को दिया जाने वाला मौजूदा कोष और कोपेनहेगन समझौते का प्रस्ताव अप्रयाप्त है। विकासशील राष्ट्रों में जलवायु परिवर्तन को नियंत्रित करने के लिए यह जरूरी है कि विकसित राष्ट्र आधिकारिक विकास सहायता और सार्वजनिक स्रोतों के साथ-साथ अपने सकल घरेलू उत्पाद की 6 फीसदी राशि का एक सालान कोष मुहैय्या करें। ऐसा करना व्यावहारिक है क्योंकि वे इतनी ही राशि राष्ट्रीय सुरक्षा पर खर्च करते हैं और इससे 5 गुनी राशि दिवालिये होते बैंकों और सट्टेबाजों को बचाने के लिए झोंक चुके हैं जो उनकी वैश्विक प्राथमिकताओं और राजनीतिक इच्छाशाक्ति पर गम्भीर प्रश्न है। यह नया सहायता कोष शर्तनामों से मुक्त और प्रत्यक्ष होना चाहिए तथा इसे सर्वाधिक प्रभावित समुदायों और समुहों की राष्ट्रीय सम्प्रभुता और आत्मनिर्णय के अधिकार में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

मौजूदा क्रियाविधि की अक्षमता के मद्देनजर, 2010 में मैक्सिकों में होने वाले जलवायु परिवर्तन सम्मेलन में एक नयी अनुदान क्रियाविधि को स्थापित किया जाना चाहिए जो जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र के रूपरेखा सम्मेलन के तहत कॉन्फ्रेन्स ऑफ पार्टीज (सी पी ओ) के प्राधिकरण के तहत काम करता हो और उसी के प्रति जवाबदेह हो। परिशिष्ट 1 के देशों द्वारा अनुदान के किये गये वायदे का पूरी तरह पालन सुनिश्चित करने के लिए इस प्राधिकरण में विकासशील देशों का समुचित प्रतिनिधित्व हो। पहले ही बताया गया है कि 1990 से 2007 तक के काल में विकसित देशों ने अपने उत्सर्जन को भारी मात्रा में बढ़ाया है, जबकि उन्होंने खुद यह कहा था कि बाजार क्रियाविधियाँ उत्सर्जन में कमी लाने में भरपूर सहायता प्रदान करेंगी।

हमारी धरती माँ को मॉल में बदलकर कार्बन बाजार एक भारी मुनाफे का बाजार बन गया है इसलिए यह जलवायु परिवर्तन से निपटने का कोई विकल्प नहीं हो सकता क्योंकि यह भूमि, जल, और यहाँ तक कि स्वयं जीवन को लूटता और उनका विनाश करता

है।

ताजा वित्तीय संकट यह प्रदर्शित कर चुका है कि सट्टेबाजी, बिचौलियों दलालों के उद्भव के कारण क्षणभंगुर-और अनिश्चित बाजार इस वित्तीय तन्त्र को चलाने में असमर्थ है। इसलिए मानव अस्तित्व और हमारी धरती माँ की देखभाल और सुरक्षा का दायित्व उनके हाथों में सौंपना एकदम गैर-जिम्मेदाराना होगा।

कहने की जरूरत नहीं कि वर्तमान में जारी वार्ताएँ एक नयी क्रियाविधि प्रस्तावित करती हैं जो कार्बन बाजार को विस्तारित और प्रोत्साहित करती है जबकि मौजूदा क्रियाविधियाँ न तो जलवायु परिवर्तन की समस्या को हल कर पायी हैं और न ही ग्रीन हाउस गैसों को कम करने वाली वास्तविक और प्रत्यक्ष कार्रवाई कर पायी हैं। यह माँग करना अनिवार्य है कि विकास और तकनीक हस्तान्तरण से सम्बन्धित जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र के रूपरेखा सम्मेलन के तहत विकसित राष्ट्रों द्वारा प्रास्तावित ''तकनीकी दिखावे'' को रद्द करना भी जरूरी है जो केवल तकनीक बेचकर मुनाफा बटोरता है। भागीदारी युक्त नियंत्रण, प्रबन्धन और तकनीकी लेन-देन के मूल्यांकन के लिए बहुपक्षीय और बहुअनुशासित क्रियाविधि निर्मित करने के लिए यह जरूरी है कि दिशा-निर्देशों की स्थापना की जाय। इन तकनीकों का उपयोगी, स्वच्छ और सामाजिक रूप से विश्वस्त होना जरूरी है। इसी तरह एक ऐसे कोष की स्थापना करना भी बुनियादी जरूरत है जो समुचित और बौद्धिक सम्पदा अधिकार से मुक्त तकनीकी खोज में पूँजी लगाने के काम आये। कम लागत और आसानी से उपलब्ध तकनीकी को प्रोत्साहित करने के लिए, मुख्यतः पेटेन्टों को निजी एकाधिकारियों के हाथों से छीन कर आम लोगों के दायरे में लाना चाहिए।

ज्ञान सार्वभौमिक है। ज्ञान या ज्ञान की तकनीकी उपयोगिता को किसी भी हाल में निजी सम्पत्ति या निजी उपयोग की वस्तु नहीं होना चाहिए। विकसित देशों का यह दायित्व है कि वे अपनी तकनीक विकासशील देशों के साथ साझा करें ताकि विकासशील देशों में तकनीकों की रचना और नई खोजों के लिए अनुसन्धान केन्द्र बनाए जा सकें और ''बेहतर जीवन'' के लिए तकनीक के विकास और प्रयोग को सुरक्षित और प्रोत्साहित किया जा सके। इस ग्रह के विनाश को रोकने और धरती माँ के सामन्जस्य से दुबारा बेहतर जीवन क्षमता प्राप्त करने के लिये दुनिया की जनता से उनके पुस्तैनी सिद्धान्तों और पद्धतियों को फिर से हासिल करना सीखना होगा। साथ ही पुस्तैनी ज्ञान, साधना और रिवाजों को प्रोत्साहित करना होगा।

जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र के रूपरेखा सम्मेलन और क्वेटो प्रोटोकॉल के अन्तर्गत लिए गये संकल्पों और दायित्वों का प्रभावी तरीके से पालन करने के मामले में विकसित देशों की राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव को देखते हुए हम धरती माँ और मानवता के अधिकारों की अवहेलना करने वालों के खिलाफ जलवायु और पर्यावरण सम्बन्धी न्याय प्राधिकरण की स्थापना की माँग करते है जिसके पास उन सरकारों उद्योगों और लोगों को रोकने, फैसला करने और दण्ड देने की कानूनी क्षमता हो, जिन्होंने जाने-अन्जाने जलवायु परिवर्तन को दूषित किया हो या भड़काया हो।

जो सरकारें जलवायु और पर्यावरणीय न्याय प्राधिकरण में उन विकसित देशों के खिलाफ दावा पेश करती हैं जो जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र रूपरेखा सम्मेलन और क्वेटो प्रोटोकॉल की वचनबद्धता को पूरा करने में असफल हों, जिसमें ग्रीन हाउस गैसों को कम करने का वचन भी शामिल है, हम उन का समर्थन करते हैं।

हम लोगों से संयुक्त राष्ट्र में गम्भीर सुधारों को प्रस्तावित और प्रोत्साहित करने की अपील करते हैं, ताकि सभी सदस्य सरकारें अन्तरराष्ट्रीय जलवायु और पर्यावरण न्याय प्राधिकरण के फैसलों का अनुसरण करें।

मानवता का भविष्य खतरे में है और हम विकसित देशों को फैसला लेने की इजाजत नहीं दे सकते, जिसका असफल प्रयास उन्होंने कोपेनहेगेन में पार्टियों के सम्मेलन में किया था। इस निर्णय का सरोकार हम सबसे है। अतः जलवायु परिर्वतन के बारे में विश्वस्तर पर जनमत संग्रह या व्यापक जन विमर्श करना आवश्यक है जिसमें सभी लोगों से निम्न मुद्दों पर मंत्रणा की जायेः विकसित देशों और पारराष्ट्रीय निगमों की तरफ से की गयी उत्सर्जन में कमी का स्तर, विकसित देशों द्वारा प्रस्तावित किया गया वित्त, एक अन्तरराष्ट्रीय जलवायु एवं पर्यावरणीय न्याय प्राधिकरण का निर्माण, धरती माँ के अधिकारों के लिए सार्वभौमिक घोषणा की आवश्यकता और मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने की जरूरत के बारे में वैश्विक जनमत संग्रह या व्यापक जन-विमर्श की उस प्रक्रिया पर निर्भर करेगी जो इसके सफल विकास को सुनिश्चित करती हो।

हमारे अन्तरराष्ट्रीय कार्य में समन्वय के लिए और इस ''जनता की सहमति'' के परिणामों को लागू करने के लिए, हम धरती माँ के लिए सम्पूरकता के सिद्धान्तों पर आधारित एक ऐसे वैश्विक जन आन्दोलन का निर्माण करने का आह्वान करते हैं, जो विभिन्न दृष्टिकोणों और विविध स्थानों से आने वाले सदस्यों में एक दूसरे के लिए सम्मान, और पूरे विश्व में तालमेल और संयुक्त कार्रवाइयों के लिए एक व्यापक और लोकतान्त्रिक

मंच का निर्माण करे।

इस मोड़ पर हम यहाँ एक विश्वव्यापी कार्य योजना पारित करते हैं ताकि भावी मैक्सिको सम्मेलन में परिशिष्ट 1 में सूचीबद्ध विकसित देश मौजूदा वैधानिक ढाँचे का सम्मान करें और अपने ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में 50 फीसदी तक की कमी लायें और इस समझौते में निहित विभिन्न प्रस्ताव वहाँ परित हो सकें।

अंततः धरती माँ के हक में विश्वव्यापी जन आन्दोलन का निर्माण करने और इस साल के अन्त में कानकून, मैक्सिको में होने वाले जलवायु परिवर्तन सम्मेलन के निष्कर्षों पर प्रतिक्रिया देने की इस प्रक्रिया के एक अंग के रूप में, हम 2010 में जलवायु परिवर्तन और धरती माँ के अधिकरों के बारे में ''दुनिया की जनता के दूसरे सम्मेलन की जिम्मेदारी उठाने को तैयार हैं।''

मानवता का भविष्य खतरे में है और हम विकसित देशों को फैसला लेने की इजाजत नहीं दे सकते, जिसका असफल प्रयास उन्होंने कोपेनहेगेन में पार्टियों के सम्मेलन में किया था। इस निर्णय का सरोकार हम सबसे है। अतः जलवायु परिर्वतन के बारे में विश्वस्तर पर जनमत संग्रह या व्यापक जन विमर्श करना आवश्यक है जिसमें सभी लोगों से निम्न मुद्दों पर मंत्रणा की जायेः विकसित देशों और पारराष्ट्रीय निगमों की तरफ से की गयी उत्सर्जन में कमी का स्तर, विकसित देशों द्वारा प्रस्तावित किया गया वित्त, एक अन्तरराष्ट्रीय जलवायु एवं पर्यावरणीय न्याय प्राधिकरण का निर्माण, धरती माँ के अधिकारों के लिए सार्वभौमिक घोषणा की आवश्यकता और मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने की जरूरत के बारे में वैश्विक जनमत संग्रह या व्यापक जन-विमर्श की उस प्रक्रिया पर निर्भर करेगी जो इसके सफल विकास को सुनिश्चित करती हो।